लेखक—

रायगढ़-नरेश श्रीमान् राजा चक्रधरसिंह

अलकापुरी

पहला खण्ड

लेखक—

मायाचक्र; बैरागढ़िया राजकुमार; काव्य-कानन; जोशे-फ़रहात; रत्नहार आदि-आदि पुस्तकों के प्रणेता

रायगढ़-नरेश श्रीमान् राजा चक्रधरसिंह

प्रकाशक—

पण्डित लक्ष्मणप्रसाद मिश्र,

साहित्य-समिति, रायगढ़

नवम्बर, १९३२

प्रथम संस्करण १०००] [मूल्य १॥)

पुस्तक के रचयिता—

रायगढ़-नरेश श्रीमान् राजा चक्रधरसिंह जी

वैज्ञानिक सभ्यता की उच्चतम भूमि पर पहुँच कर भी मानव-मस्तिष्क प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य तथा अद्भुत व्यापारों को देख कर मुग्ध तथा आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहता। पर्वत के शृङ्खलाबद्ध उच्च शिखर, भयङ्कर गर्जन से परिपूर्ण वन तथा कल-कल नाद के साथ बहते हुए नाले, आज भी हमारा ध्यान सम्पूर्ण शक्ति के साथ आकर्षित कर रहे हैं। अनेक विस्तृत गिरिमालाओं के बीच रायगढ़ नगर का पार्श्ववर्ती गढ़-पर्वत भी अपनी निराली ही छटा रखता है। नदी-नालों तथा मनोरम प्राकृतिक दृश्यों से परिवेष्ठित वह एक स्वाभिमानी नरेश की भाँति अपना गौरवपूर्ण मस्तक ऊँचा किए, बसन्त की आभा से मानो मुसकुरा रहा है। सघन वन-प्रदेश उसके शिखर पर राजमुकुट की भाँति सुशोभित हो रहा है। नाना

प्रकार के पक्षी तथा स्वच्छन्द हिंसक जन्तु अपने-अपने ढङ्ग से बन्दीजन की भाँति अपना-अपना तान-तम्बूरा साज कर मानो पर्वतराज का यश-गान कर रहे हैं। इधर केलो नदी सुदूर गिरि-कन्दराओं से बाहर निकल कर सघन वनों को पार करती हुई, चपला नारी की भाँति चञ्चल गति के साथ पर्वतराज की परिक्रमा करती हुई, प्रवाहित हो रही है। ऐसा जान पड़ता है, मानो यौवन-सुलभ चपलता के साथ इठला कर उसने गढ़ पर्वत के गले में अपनी बाँह डाल दी हो।

इसी सुरम्य गढ़ पर्वत के शिखर पर सुविस्तृत समतल भूमि, इतिहास-प्रसिद्ध मील्लूगढ़ शत्रुओं के नैराश्य पर मुसकुराता हुआ वीर-दर्प के साथ स्थित है। उसके ऊँचे कङ्गूरों पर बैठे हुए पक्षी अपने सुयोग्य स्वामी महाराज चन्द्रसिंह की विमल कीर्ति का उच्च स्वर से गान कर रहे हैं। महाराज चन्द्रसिंह जी अभी हाल में ही अपने पिता श्रीदेवसिंह जी के स्वर्गारोहण के उपरान्त सिंहासनासीन हुए हैं। महाराज अभी नवयुवक ही हैं, परन्तु शासन की बागडोर हाथ में लेते ही उनके विद्वेषी शत्रुओं का हृदय काँप उठा। उनका अजेय पराक्रम, अदम्य उत्साह तथा अद्भुत साहस बाल्यकाल में ही शत्रुओं को आश्चर्य-चकित तथा भयभीत कर चुका था। नए महाराज की प्रबल विशाल बाहुओं की छाया में प्रजा निःशङ्क होकर सुख की

नींद सोने लगी, परन्तु विद्वेषियों के लिए तो मानो काँटों की सेज बिछ गई। अस्तु—

आज महाराज चन्द्रसिंह अपने अन्तरङ्ग सखा रणसिंह तथा विश्वासपात्र चतुर अय्यार शिवसिंह के साथ केलो नदी के किनारे वसन्त ऋतु की अनुपम छटा का स्वर्गीय आनन्द ले रहे हैं। महाराज के प्रिय मन्त्री अजितसिंह तथा उनके दो-एक अन्य कृपापात्र भी महाराज के साथ प्रकृति की महिमा की अनुभूति में सहयोग दे रहे हैं।

समस्त वन-प्रान्त ऋतुराज की अलौकिक मधुरिमा से परिप्लावित हो रहा है। प्रकृति सुन्दरी हरे-हरे वस्त्रों से सुशोभित मानो यौवन की मस्ती में झूम रही है। हरी-हरी पत्तियों की झुरमुट में बैठी हुई चिड़ियाँ मीठी-सुरीली तान के साथ अपने उल्लासपूर्ण नन्हें-नन्हें हृदयों को बाहर निकाले दे रही हैं। रसिकों के भी हृदय अपने-अपने स्थूल कलेवरों को छोड़ कर उन्हीं के साथ जा बैठने के लिए आतुर हो उठे हैं। वसन्त की स्वर्गीय शोभा को देखने के लिए मानो वनदेवियाँ कोयलों और सारिकाओं के रूप में आकर अपने पैरों के नूपुरों को रिमझिम-रिमझिम बजा रही हैं। जलाशयों में तथा बीचियों में, सुमन-मञ्जरियों तथा सघन वल्लरियों में वसन्त की पागल कर देने वाली मादकता भरी हुई है। समस्त वन-प्रान्त उमङ्ग से उमड़ा पड़ता है।

इधर सन्ध्या सुन्दरी अपने लाल तथा सुनहले आभूषणों से सजी हुई, भगवान् अंशुमाली को अपने अङ्क में लेकर उनकी दिन भर की थकावट दूर कर रही है। असह्य विरह-काल के व्यतीत होने के उपरान्त दिननायक को अपने निकट एकान्त में पाकर लजीली सन्ध्या-देवी ने शक्ति की जननी रजनी का आह्वान करना आरम्भ कर दिया।

सौन्दर्य की इस होड़ में केलो नदी ही क्यों किसी के पीछे रहे ? वह भी प्रकृति के सुर में सुर मिला कर अपना निराला सङ्गीत सुना रही है। कोमल रव करती हुई वह पर्वतराज के कटि-प्रदेश में करधनी की भाँति लपटी हुई है। अपने कलकल नाद द्वारा केलो भी वसन्त का मादक सन्देश सुनाने में तल्लीन है। पर्वत की विशाल चट्टानों से टकरा कर उसका निर्मल जल क्षीर-मथन का सा दृश्य उपस्थित कर रहा है। पवन के धीमे-धीमे झोंकों से उड़ने वाली नन्हीं-नन्हीं बूँदें हमारे चरित-नायक के सुन्दर मुख-मण्डल पर गिर कर हल्की सी गुदगुदी पैदा कर रही हैं। अपने सखा वसन्त का यह अनोखा शृङ्गार देख, भगवान कामदेव ने भी अपने सम्मोहन शरों से रसिक जनों के हृदयों को घायल करने के लिए अपना पुष्प-धनुष सँभाला। न जाने क्यों ? आज महाराज चन्द्रसिंह को समस्त सृष्टि एक नए रङ्ग में रँगी हुई सी दिखाई देने लगी। पक्षियों,

जलचरों तथा हिंसक पशुओं के सम्मिलित सङ्गीत में आज उन्होंने एक ऐसी मादकता देखी, जिसका उन्होंने पहिले कभी अनुभव न किया था। हम पहले कह चुके हैं कि महाराज अभी नवयुवक ही हैं। केलो-तटवर्तिनी वासन्ती सन्ध्या ने उनके हृदय को चञ्चल कर दिया। उनकी चपल दृष्टि प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में इधर-उधर पागल की भाँति दौड़ने लगी। कभी वह पेड़ के हरे-हरे पत्तों की घनी झुरमुट में छिप रहने का आग्रह करती, तो कभी वन्यसुमनों की अव्यवस्थित किन्तु सुन्दर मञ्जरियों के साथ झूमने लगती।

कानों की राह से नाना सुरीले पक्षियों की सङ्गीत-सुधा का पान करते हुए वे सरिता-तट पर अपने सखा-मण्डल के साथ मन्द-मन्द गति से टहल ही रहे थे कि सुदूर कानन-प्रान्त से कुछ सङ्गीतमय सुरीली गुनगुनाने की सी ध्वनि सुनाई पड़ी। यद्यपि उस स्वर में ताल और लय का अभाव था, तो भी उस अव्यवस्थित सङ्गीत में एक वह मस्ती थी, जिसने महाराज का ध्यान अपनी ओर बरबस आकृष्ट कर लिया। महाराज उधर ही कान लगा कर स्थिर हो गए। रणसिंह भी ठहर कर सुनने लगे। क्षण भर की स्तब्धता के उपरान्त रणसिंह ने लापरवाही से कहा—"कोई पक्षी होगा।" निश्चयसूचक स्वर में महाराज ने कहा—"नहीं, तुम भूल कर रहे हो, यह रमणी-कण्ठ-निःसृत कोकिल-ध्वनि है।"

ध्वनि प्रति क्षण निकट आती गई। कुछ देर ध्यान देकर सुनने के पश्चात् चन्द्रसिंह अकस्मात् बोल उठे— आह! कैसा मधुर गीत है। सीधे-सादे शब्दों में, भोले-भाले स्वरों में वह गा रही है—

"मैं भी चलूँगी परदेस पिया,
मोहिं रैनि वसन्त सतावति है।"

क्रमशः सङ्गीत की ध्वनि और भी निकट आती गई। चन्द्रसिंह और भी अधिक तल्लीनता के साथ सुनने लगे। उनकी यह तल्लीनता उनके प्रिय सखा रणसिंह को नितान्त अमङ्गलपूर्ण जान पड़ने लगी। उन्होंने चन्द्रसिंह का ध्यान उस ओर से हटा कर वसन्त के मधुर सङ्गीत की ओर आकृष्ट करने का अथक प्रयत्न किया, परन्तु चन्द्रसिंह को न जाने कौन सी आकर्षण शक्ति चुम्बक की भाँति अपनी ओर खींचे ले रही थी। उनके कान उधर लगे ही रहे।

वन-प्रान्तीय लता-कुञ्जों को दाहिने हाथ से हटाती हुई सहसा एक सुन्दरी नदी के दूसरे तट पर आ खड़ी हुई। बाएँ हाथ से वह सिर पर धरे हुए पीतल के घड़े को सँभाले हुए थी। उसका अञ्चल असावधानी से नन्हीं-नन्हीं टहनियों में उलझ कर कुछ नीचे सरक गया था। वन के निरालेपन के कारण उसने अञ्चल को सँभालने की विशेष चिन्ता न की। वह अपनी धुन में मस्त, वाल-

"× × × अकस्मात् उसकी दृष्टि दूसरे किनारे पर पड़ी। उसने देखा कि एक सुन्दर नवयुवक तृष्णा-भरी दृष्टि से उसकी ओर टकटकी लगाए देख रहा है।"—[पृष्ठ ७]

FINE ART PRINTING COTTAGE
ALLAHABAD

[चित्रकार—श्री० एच० बागची

यौवन की मादकता में वही गीत गुनगुनाती हुई निःशङ्क सरिता-तट की ओर अग्रसर हो रही थी :—

"मैं भी चलूँगी परदेस पिया,
मोहिं रैनि वसन्त सतावति है।"

अकस्मात् उसकी दृष्टि दूसरे किनारे पर पड़ी। उसने देखा कि एक सुन्दर नवयुवक तृष्णा-भरी दृष्टि से उसकी ओर टकटकी लगाए देख रहा है। नारी-सुलभ लज्जा के कारण उसके चन्द्रमुख पर हलकी सी गुलाबी दौड़ गई। दूसरे ही क्षण उसने अपना अञ्चल सँभाला। उसका सङ्गीत सघन वन-प्रदेश में विलीन हो गया।

महाराज चन्द्रसिंह को आज से पूर्व किसी सुन्दरी के तीक्ष्ण नयन-शरों के आघात का अनुभव नहीं हुआ था। आज इस ग्राम-बाला का भोला-भाला रूप बरबस उनके हृदय को अपनी ओर खींच ले गया। बाला अभी अपनी भोली वयस का अतिक्रमण करके यौवन की मत-वाली भूमि में पदार्पण कर ही रही थी। उसके सुन्दर गोरे कपोलों पर मोहक सौन्दर्य की छटा विराज रही थी। उसका शृङ्गार अधूरा था। केश, वस्त्र, आभूषण सभी अव्यव-स्थित। परन्तु उसका मुख-मण्डल उसी अधूरे शृङ्गार के बीच बादलों से कुछ-कुछ ढके हुए पूर्ण चन्द्र की भाँति दमक रहा था। भौंरे के समान काले केशों की एक-दो लटें उसके मस्तक पर बिखरी हुई, वायु के मन्द-मन्द थपेड़ों

से शनैः-शनैः हिल रही थीं। अल्हड़ बालिका अपने दाहिने कान में वन्यकुसुमों की एक छोटी सी मञ्जरी खोंसे हुए थी, जिसे शायद उसने रास्ते में ही तोड़ा था।

सिर से घड़ा उतार कर वह पानी की ओर झुकी और नीचे ही दृष्टि किए नदी के स्वच्छ जल से उसने अपना घड़ा भर लिया। भरा हुआ घड़ा उठाते समय बाल-उत्सुकता के कारण एक बार फिर तिरछी दृष्टि नदी के उस ओर फेंकी। चन्द्रसिंह अभी तक उसकी ओर ताक रहे थे। पहले की भाँति घड़ा सिर पर रख कर वह सलज्जा, वन-प्रदेश की ओर चल पड़ी। अपनी अन्तिम दृष्टि द्वारा तो वह मानो चन्द्रसिंह का हृदय ही चुरा ले गई। महाराज ने दृष्टि के द्वारा जितनी दूर तक हो सका, उसका पीछा किया। परन्तु शीघ्र ही सघन वृक्षों के बीच वह अन्तर्धान हो गई। अकस्मात् मानो उनका मोह-स्वप्न भङ्ग हुआ। इधर-उधर दृष्टि डाली। रणसिंह तथा मन्त्री इस समय तक कनखियों से महाराज की अवस्था देख रहे थे। अपने मित्र से चार आँखें होते ही महाराज की दृष्टि झुक गई। क्षण भर वह भूले हुए की भाँति उसी अवस्था में मूर्तिवत् खड़े रहे। उन्होंने एक गहरी साँस ली।

रणसिंह ने मौन भाषा से ही समस्त व्यापार भली-भाँति समझ लिया! शान्ति भङ्ग करते हुए उन्होंने कहा—महाराज!

चौंक कर चन्द्रसिंह ने कहा—रणसिंह !

रणसिंह ने गम्भीर स्वर में कहा—महाराज ! जङ्गली फल कितना ही सुन्दर हो, परन्तु उसकी शोभा वन में ही बनी रह सकती है। राजबाटिकाओं में उसकी बेल पनप नहीं सकती।

"महाराज ! वह कन्या सुनार की पुत्री है।"

चन्द्रसिंह ने नैराश्य और खिन्नता के साथ उत्तर दिया—परन्तु मैं तो बहुत दूर तक बढ़ चुका हूँ रणसिंह ! मेरा हृदय उसके साथ चला गया है। उसे लौटा लेने की शक्ति मुझमें नहीं रह गई।

"यह क्या महाराज !"—रणसिंह ने दृढ़ता के साथ कहा—"क्या आपको यह नैराश्य शोभा देता है ? इस मानसिक दुर्बलता को एक झटके से निकाल डालिए। तनिक विचार कीजिए—राजप्रासादों में उस वन-कन्या को पदार्पण करते देख कर क्या लोग हँसेंगे नहीं ?"

चन्द्रसिंह ने अपनी बात दुहराते हुए कहा—परन्तु रणसिंह ! मुझमें उचित और अनुचित समझने की शक्ति का सर्वथा अभाव हो गया है।

रणसिंह ने मित्रोचित घनिष्टता के साथ कहा—इसीलिए तो कहता हूँ महाराज ! इस समय आप वसन्त की इस मादकता में मदन के कुसुम-शरों से घायल होकर अपने व्यक्तित्व को भूल बैठे हैं। तनिक स्मरण कीजिए अपने

पूर्वजों का गौरवपूर्ण इतिहास ; और स्वयं अपना ही रौद्र पराक्रम ! आज आपको इस धन्वी वसन्त ने भुलावा देकर राजपथ से भटका दिया है। महाराज ! इस कण्टकाकीर्ण पथ में अब अधिक अग्रसर होना × × ×

महाराज ने अधीर होकर बीच में ही टोक दिया—रणसिंह ! वयस्य ! तुम सब ठीक कहते हो। परन्तु इस समय मुझमें तुम्हारा उपदेश समझने की क्षमता नहीं। रणसिंह ! तुम्हारा कैसा कठोर हृदय है ? मुझे क्या कुछ देर के लिए क्षमा न कर सकोगे ? ठहरो ! मुझे शान्त होकर अपने मानस-पटल पर बनी हुई उसकी मनोहर मूर्ति के दर्शन का सुख लूट लेने दो। आह ! उसका ग्राम्य गीत अब भी कानों में गूँज रहा है। उसका सरल सौन्दर्य ! वह मधुर चितवन × × ×

महाराज चन्द्रसिंह के हाथ को अपने हाथ में लेकर रणसिंह ने कहा—महाराज ! तो क्या आप समझते हैं कि विधाता ने सौन्दर्य-भाण्डार का समस्त पदार्थ उस वन-कन्या की रचना में ही व्यय कर दिया है ? राजप्रासाद क्या सौन्दर्य से ख़ाली है ? श्रीमन् ! रति के समान सुन्दर अनेक राजकुमारियाँ आपकी कृपा-दृष्टि की प्रतीक्षा कर रही हैं। कितनी ही अप्सराएँ आपके कृपा-कटाक्ष पर अपने प्राणों को न्योछावर कर सकती हैं। अनेक चन्द्र-मुखी राजललनाएँ राजप्रासादों की खिड़कियाँ खोल कर

आपकी दर्शन-लालसा से झाँका करती होंगी। महाराज! आपकी मन्द मुसकान को अनेक राजयुवतियाँ अपना परम सौभाग्य समझती होंगी। कहाँ वह अप्सराएँ और कहाँ यह अबोध वन-कन्या।

महाराज ने रोक कर कहा—परन्तु मेरा ध्यान तो आज तक वे आकृष्ट न कर सकीं। उनमें वह आकर्षण क्यों नहीं है, जो इस वन-कन्या के अव्यवस्थित सौन्दर्य में है?

रणसिंह ने कुछ आशापूर्ण तीव्रता के साथ उत्तर दिया—महाराज! आकर्षण इस छलिया वसन्त में है। जिसने अपने सखा काम की सहायता से आपको सुमन-शरों द्वारा जर्जरित कर दिया है। वन-कन्या का सङ्गीत अथवा उस भोली लड़की का रूप नहीं, वरन् फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध से मिला हुआ पवन, उस पर इन पक्षियों का रसीला गान आपको पागल किए दे रहा है। आपका वीर-हृदय आज प्रकृति-नटी का लास्य देख कर पहले ही स्निग्ध हो चुका था। वन-कन्या को भूल कर क्षण भर के लिए वन-प्रदेश के मादक सौन्दर्य की ओर ध्यान दीजिए। कलरव करते हुए पक्षियों की मस्ती के साथ तनिक अपने हृदय को खोलिए और फिर देखिए इन चित्रों की ओर, जो सौभाग्यवश मेरे पास इसी समय विद्यमान हैं। ××× कहते हुए रणसिंह ने दो चित्र महाराज के

दाहिने हाथ पर रख दिए, महाराज की दृष्टि उनमें से एक चित्र पर स्थिर जमी रह गई।

रणसिंह अपनी सफलता पर फूले न समाते थे। कई क्षणों तक चन्द्रसिंह निर्निमेष उस चित्र की ओर ताकते रहे। उन्होंने देखा, एक सुन्दरी अप्सरा सुरम्य उपवन में खड़ी कुसुम-कुञ्ज की एक ऊँची सी डाली को बाएँ हाथ से पकड़े हुए, दाहिने हाथ से काँटों के बीच लगे हुए मनोहर पुष्प को तोड़ने का प्रयास कर रही है। वे मन ही मन मुग्ध होकर बड़ी देर तक अपलक उस चित्र-लिखित अप्सरा का पुष्प-चयन देखते रहे।

सहसा उस चित्र को रणसिंह की ओर बढ़ाते हुए सन्देह-सूचक स्वर में उन्होंने कहा—परन्तु क्या सचमुच यह किसी राजकन्या का चित्र है अथवा इन्द्रलोक-विहारिणी अप्सरा का ?

रणसिंह ने देखा, लक्ष्य बिलकुल ठीक बैठा है। इतनी देर बाद उन्होंने सन्तोषपूर्ण गहरी साँस लेकर कहा—"महाराज ! आप स्वप्न नहीं देख रहे हैं, जिस कन्या का चित्र आपके हाथ में है, वह दीयागढ़-नरेश महाराज वीरसिंह की जेष्ठा कन्या है। वह इन्द्रलोक की कल्पित अप्सरा का नहीं, वरन् सजीव मानवी-मूर्त्ति, सौन्दर्य की देवी चन्द्रावती का चित्र है।" इसके बाद शिवसिंह के प्रति आज्ञासूचक स्वर में उन्होंने कहा—"शिवसिंह ! महाराज की आज्ञा है कि

तुम दीयागढ़ जाकर गुप्त रूप से चन्द्रावती के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना एकत्र करो।"

महाराज का मौन आदेश पाकर शिवसिंह तीव्र गति से अपना अय्यारी का बटुआ लिए हुए दीयागढ़ की ओर चल पड़े। महाराज लज्जा, ग्लानि, सन्ताप के कारण कई क्षणों तक नत-मस्तक होकर उसी अवस्था में खड़े रहे। अकस्मात् मन्त्री ने कहा—महाराज, अब विलम्ब हो चला है। देखिए न! निशानाथ विश्व की निस्तब्धता का अवसर देख कर अपनी प्रेमिका सखियों के साथ विहार करने के लिए व्योम-मण्डल में निकल चुके हैं। पक्षियों का कल-गान भी अब क्रमशः अन्धकार में विलीन हो गया है। केवल पयस्विनी नदियों ने ही अपना सङ्गीत बन्द नहीं किया। शेष समस्त सृष्टि विश्राम करने के लिए व्याकुल हो उठी है। उच्च राजप्रासादों की सुख-शय्याएँ आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं। चलिए, मानसिक पीड़ा को शान्त कीजिए।

मन्त्री की उचित अनुमति का समर्थन करते हुए रणसिंह ने कहा—ठीक है, चलिए, ईश्वर ने चाहा तो जिस चन्द्रावती की रूप-माधुरी के प्रति मेनका तथा रति भी ईर्ष्या-भाव रखती हैं, जिस चन्द्रावती की लालसा में अनेक वैभव-समृद्धि-सम्पन्न सम्राट् भी अपने प्राणों की बलि देने को उत्सुक हैं, वही सौन्दर्य की प्रतिमा शीघ्र ही आपके अन्तःपुर को सुशोभित करेगी।

चन्द्रसिंह ने अपना सिर उठा कर जिज्ञासापूर्वक कहा—परन्तु यह चित्र तुम्हारे पास कैसे ? नितान्त सुरक्षित राजभवनों में विहार करने वाली इस अज्ञात यौवना राज-कन्या का चित्र राजपथों पर भटकने वाली जन-साधारण की सम्पत्ति तो नहीं है। जिस राजयुवती के दर्शनों को भगवान अंशुमाली की रश्मिमालाएँ भी लालायित रहती होंगी, उसके यौवन-उभार का यह चित्र पवन का स्पर्श किस प्रकार कर सका।

रणसिंह ने रहस्यपूर्ण स्वर में कहा—महाराज ! इसका भी एक रोचक इतिहास है। आइए, हम लोग नगर की ओर चलें। मैं मार्ग में ही आपके कौतूहल की निवृत्ति करूँगा।

सब लोग मील्लूगढ़ की ओर चल पड़े। चन्द्रसिंह तथा मन्त्री की उत्सुकता और भी बढ़ गई। रणसिंह ने कहना प्रारम्भ किया—"महाराज ! आपको स्मरण होगा, आज से प्रायः ५-६ मास पूर्व आपने किसी निर्जन गहन वन में एक आखेट-उद्यान तथा आखेट-भवन बनवाने की अभिलाषा प्रकट की थी। आपकी आज्ञा से मैंने कई सप्ताह तक स्थल के अनुसन्धान के लिए इस सुविस्तृत गिरि-प्रदेश के अनेक भयङ्कर वनों में निरन्तर भ्रमण किया था। मुझे आज भी वह घटना भलीभाँति स्मरण है। श्रावण की अँधेरी अमावस्या थी। उस दिन मुझे सघन अपार वन में

ही रात आ पड़ी, इधर इन्द्रदेव ने अपने समस्त कटक को मानो उस वन में प्रलय उपस्थित कर देने का अनुशासन दे दिया हो। काले-काले मेघों से समस्त गगन-मण्डल आच्छादित हो गया। भयङ्कर गर्जन-तर्जन के साथ पृथ्वी जलराशि से परिप्लावित होने लगी। उस घोर तमराशि में चपला की चञ्चल चमक हृदय को हिलाने लगी। देखते ही देखते समस्त भूमण्डल जलमय हो गया। छोटे-छोटे नाले पर्वत के वक्षस्थल पर ताण्डव नृत्य करते हुए नदियों में विलीन हो जाने के लिए बह चले। उधर सरिताएँ अपने प्रियतम प्राणनाथ के आलिङ्गन के लिए आतुर हो द्रुत गति से पर्वत प्रदेश से भाग चलीं। जलचरों ने आनन्द की वंशी बजाई। उस प्रलय-रजनी में मैं व्याकुल होकर इधर-उधर भटकने लगा। मुझ निराश्रय को आश्रय देने के लिए कोई सघन वृक्ष भी न मिल सका। मेघों का भयङ्कर गर्जन तथा सरिताओं का गगन-भेदी झर-झर नाद मानो परस्पर होड़ लगाए हुए थे। मैं अनेक रूपों में भगवान् नटनागर का स्मरण करता पाँव बढ़ाए जा रहा था। चारों ओर सृष्टि में निराशा का साम्राज्य दिखाई दे रहा था। सहसा सुदूर वन-प्रान्त में अन्धकार को चीरती हुई किसी के कराहने की करुण ध्वनि मुझे सुनाई दी। मेरा क्षत्रिय-हृदय विपत्ति-ग्रस्त होने पर भी अशरण के उद्धार के हेतु व्याकुल हो उठा। ठहर कर कान लगाए। फिर वही करुण आर्तनाद! मैं कटीले

और पथरीले वन्य पथ में उलझता फिसलता तीव्र गति से उसी ओर चल पड़ा। फिर वही करुण क्रन्दन। अत्यन्त परिश्रम के उपरान्त मैं उस दुखी के निकट तक पहुँच सका। इस समय तक झड़ी कुछ हलकी थी। एक बार बिजली चमकी। उसके उज्ज्वल प्रकाश में मैंने देखा, एक वृद्ध दरिद्र! मैंने झपट कर उसे गोद में उठा लिया। उसने कराहते हुए कहा—'पानी।' मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। कैसी विडम्बना है। समस्त सृष्टि जलमयी हो रही है। नभतल, महीतल जल-प्रवाह से ओत-प्रोत हो रहे हैं। परन्तु इस बूढ़े की पिपासा-तृप्ति के लिए ये सब पर्याप्त नहीं हैं। यह दशा असाधारण जान पड़ती है। मैंने देखा, बूढ़े के प्राण होठों पर थे। उसने फिर आर्त स्वर में कहा—'पानी!' मैंने सोच-विचार में विलम्ब करना उचित न जान निकटवर्ती जलाशय से चुल्लू भर पानी लेकर उसके मुँह में डाल दिया। बूढ़े ने अपनी गड्ढों में धँसी हुई आँखें खोल दीं। मैंने कहा—'पथिक!' बूढ़े ने कहा—'परदेसी!' उसका सिर अपनी जाँघ पर रखते हुए मैंने पूछा—'बूढ़े पथिक! तुम्हारा परिचय?' पथिक ने छोटी-छोटी आँखों से एक बार मेरी ओर देख कर कहा—'परदेसी! तुम कोई भी हो, पर तुम मेरी करुण कहानी सुनना चाहते हो। अच्छा सुनो, तुम्हारी रात कटेगी और मेरी बाधा। परदेसी! दयालु परदेसी, मैं चित्रकार था। तुम मुझे बूढ़ा समझते

हो ? हाय ! आज से दो मास पूर्व मैं जवान था। परदेसी ! तुम्हारी ही भाँति सबल तथा दृढ़ !' बिजली के प्रकाश में मैंने देखा, उसके गाल पर आँसू की दो बूँदें मोती की तरह चमक रही थीं। उसने कहा—'परदेसी, मैं चित्रकार था। मुझे वनों, पर्वतों, पक्षियों के मनोहर दृश्य चित्रित करने का रोग सा हो गया था। अनेक देशों में मैंने भ्रमण किया। रम्य उपवनों, मनोहर पक्षियों तथा स्वर्गीय दृश्यों के कलापूर्ण चित्र मैंने खींचे। कितने ही भव्य राजप्रासादों को तुम मेरे अमूल्य चित्रों से सुसज्जित पाओगे। परदेसी, मेरे चित्र अत्यन्त सुन्दर होते थे। उस दिन मैंने देखा—गुलाब के फूल पर एक अनोखी चिड़िया बैठी हुई अपनी मस्ती में गा रही थी। दौड़ कर उसका चित्र बनाने लगा। फूल बन चुका था। चिड़िया पर मैंने हाथ लगाया ही था कि वह उड़ गई। मेरी आशा पर तुषार पड़ गया। परन्तु अपनी उत्कट लालसा के कारण मैं पागल की भाँति उसके पीछे दौड़ पड़ा। उसका पीछा करता हुआ मैं दीयागढ़ राजवाटिका के द्वार तक जा पहुँचा। भीतर झाँक कर मैंने देखा, दो राजकुमारियाँ उपवन में पुष्प-चयन कर रही हैं। आह ! ग़ज़ब की सुन्दरता थी ! मालूम होता था मानो शोभा, अपनी बहिन प्रभा के साथ आज सदेह उस सुरम्य वाटिका में उतर आई है। उनके रूप को देख कर मैं मुग्ध हो गया। चिड़िया न जाने कहाँ चली गई, परन्तु मैं अपलक

नयनों से उस छवि को बड़ी देर तक टकटकी लगाए निहारता रहा। उसका चित्र मेरे हृदय-पटल पर खिंच गया। परन्तु वह तो राजकुमारी थी और मैं क्षुद्र चितेरा नैराश्य और राजभय के कारण अपनी अकथ व्यथा को छिपाए पागल की भाँति अपनी तूलिका सँभाले एक ओर चल दिया। परदेसी ! मैं पागल हो गया, फिर बूढ़ा हो गया। प्यास ! परदेसी पानी !' मैंने चुल्लू भर पानी फिर बूढ़े के मुँह में डाल दिया। उसने फिर अपने भावों की लड़ी पकड़ी—'परदेसी ! मैं पागल होकर न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा। मैं वन की अव्यवस्थित कुसुम-मञ्जरियों में उस सुन्दरी की रूप-माधुरी की गन्ध ढूँढ़ता फिरा। अनेक सरिताओं तथा सघन काननों, गिरि-कन्दराओं तथा पर्वत की अमराइयों में कई रातें बिताईं। भटकता हुआ मैं इस प्रलय-रात्रि में यहाँ आ पहुँचा। मैं नहीं जानता, मैं कहाँ हूँ। परदेसी ! कल सन्ध्या-समय नीले आकाश के नीचे बैठे, मानस-पटल पर अङ्कित उन दोनों सुकुमार मूर्तियों का स्थूल मसी-पत्र-रूप देखने की मुझे अभिलाषा हुई। अपनी तूलिका सँभाल कर मैंने जीवन भर के अर्जित कला-ज्ञान का स्मरण करते हुए रङ्गों की कूँची चला दी। क्षण भर में दोनों चित्र तैयार हो गए। परदेसी ! मेरे ही गढ़े हुए उन चित्रों ने मेरी ही मृत्यु को और भी अधिक निकट बुला लिया—मेरी व्याकुलता, मेरे

हृदय की दाह और भी तीव्र हो उठी। मेरी अन्तिम घड़ी निकट है। इस प्रलय-वर्षा ने भी मेरी मृत्यु के आह्वान में मेरी विरह-वेदना की सहायता की। परदेसी, मेरे लिए अब सूर्योदय न होगा। अब नीला आकाश मैं न देख सकूँगा। तुम कोई भी हो, परन्तु मेरी अन्तिम घड़ियों के सखा हो। लो, मेरी जीवन भर की अर्जित सम्पत्ति इस पुलिन्दे में है। इसे इस बूढ़े पथिक की स्मृति-स्वरूप रखना!'—कहते हुए चित्रकार ने मैले वस्त्रों में लपेटा हुआ एक छोटा सा पुलिन्दा दिया और शनैः-शनैः अपने नयन-कपाट सदा के लिए मूँद लिए।

कुछ ही घड़ियों बाद भगवान् दिननायक ने अपनी शीतल सुनहरी किरणें फैला कर पर्वत की ओट से झाँकना प्रारम्भ किया। मैंने देखा, पोटली में यही दोनों चित्र अत्यन्त सावधानी के साथ लपेटे थे। उनके बीच में था काग़ज़ का यह छोटा सा टुकड़ा!"—कहते हुए रणसिंह ने अपनी जेब से एक छोटा सा काग़ज़ का टुकड़ा निकाल कर महाराज के हाथ में दिया। पूर्ण चन्द्रिका के प्रकाश में चन्द्रसिंह ने पढ़ा :—

महाराज वीरसिंह की प्रतिज्ञा

"मेरी राजकन्या कुमारी चन्द्रावती के अनुपम रूप की प्रशंसा को सुन कर कितने ही राजकुमारों ने उससे पाणिग्रहण करने की लालसा प्रकट की है। परन्तु मैं नरेश-

मण्डल के समस्त श्रीमानों को यह सूचित कर देना चाहता हूँ कि चन्द्रावती का पाणिग्रहण सहज समस्या नहीं है। उसी वीर तथा चतुर राजकुमार के साथ कुमारी का विवाह हो सकेगा, जो मेरे निम्न-लिखित आदेश का पालन करके अपने साहस तथा बुद्धि का परिचय दे सकेगा।

पाणिग्रहण की अभिलाषा रखने वाले राजकुमार को नवागढ़ के अलकापुरी नामक तिलस्म से कोहेतूर हीरा छीन कर राजकुमारी को भेंट करना होगा।

जिन नरेशों अथवा राजकुमारों को अपने बाहुबल पर कुछ अभिमान है, मैं उन्हें आमन्त्रित करता हूँ। वे अपने-अपने भाग्य की परीक्षा कर देखें। चन्द्रावती के विवाह के पूर्व उनकी क्षात्रशक्ति, उनके क्षात्रतेज को कठिन कसौटी पर कसा जायगा।"

महाराज वीरसिंह की दर्पभरी प्रतिज्ञा पढ़ कर चन्द्रसिंह ने क्षत्रिय-सुलभ उत्साह, गाम्भीर्य तथा अभिमान के साथ कहा—मैं निश्चय ही समस्त मण्डलाधीशों का गर्व चूर्ण करके राजकुमारी का पाणिग्रहण करूँगा। विश्व को प्रेम की अद्भुत शक्ति का परिचय देकर रहूँगा।

मीलूगढ़ निकट आ गया। रात्रि की निस्तब्धता ने राजपरिवार के सुदृढ़ दुर्ग में प्रवेश किया।
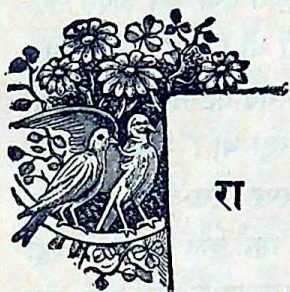
रा त हो चुकी थी। समस्त सृष्टि शान्त थी। भगवान कुमुदिनी-नायक अपनी रजत किरणों द्वारा सघन वृक्षों को छेद कर निर्जन निशा में भूले हुए बटोहियों को रास्ता बता रहे थे। पत्तों की घनी झुरमुटों में से होकर चन्द्रदेव की शीतल रश्मियाँ वन की पथरीली पगडण्डियों पर पड़ रही थीं। पर्वत के उच्च शिखर चन्द्रमा के उज्ज्वल प्रकाश में चाँदी की चादर सी ओढ़े हुए जान पड़ते थे। एक स्वर्गीय छटा छाई हुई थी। भूले हुए भयभीत पथिकों को सान्त्वना देने के लिए झरनों की मर्मर ध्वनि द्वारा प्रकृति देवी असीम के गूढ़तम रहस्यों का उद्‌घाटन कर रही थी। निर्झरों का मधुर सङ्गीत और बीच-बीच में पानी की थप-थप के मिलने से ऐसा दृश्य उपस्थित हो रहा था, मानो स्नेहमयी माता

हलकी-हलकी थपथपी देकर कुछ गुनगुनाती हुई अपने शिशु को सुलाने का प्रयत्न कर रही हो। सचमुच ही प्रकृति जननी समस्त सृष्टि को शान्ति का सन्देश दे रही थी। परन्तु माता के स्नेहपूर्ण आदेश की उपेक्षा करता हुआ एक पथिक न जाने किस धुन में तीव्र गति के साथ चला जा रहा था। बीच-बीच में भयङ्कर हिंसक जन्तुओं के कठोर गर्जन द्वारा प्रकृति देवी उसे अपने रौद्र-रूप का भी स्मरण कराती जाती थी। परन्तु वह चपल बटोही निःशङ्क भाव से टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों पर सावधानी से पाँव बढ़ाता हुआ चला ही जा रहा था। जङ्गल के घने-घने वृक्षों की फैली हुई डालें परस्पर एक-दूसरे का गाढ़ आलिङ्गन करती हुई पथिक का मार्ग बन्द किए दे रही थीं। परन्तु हठीला पथिक निष्ठुरतापूर्वक उन्हें हटा कर अपना पथ बना लेता था। पाठकों को कौतूहल होगा कि अनेक विपत्तियों को झेलता हुआ यह कौन उतावला अपने अमूल्य प्राणों को सङ्कट में डाले हुए है? परन्तु चतुर पाठकों को यह समझते देर न लगेगी कि वे महाराज चन्द्रसिंह के अय्यार शिवसिंह हैं।

शिवसिंह केलो नदी के तट पर ही महाराज से विदा लेकर अपनी मनोरथ-सिद्धि के उपाय सोचते हुए चले जा रहे थे। अय्यारों का जीवन सङ्कटमय होता ही है। फिर शिवसिंह वन की साधारण विपत्तियों की क्यों चिन्ता

करने लगे। आधी रात बीत चुकी, परन्तु उन्होंने अपनी यात्रा बन्द न की।

सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति, सम्पत्ति-विपत्ति के वृन्दों पर ही सृष्टि अवलम्बित है। देखते ही देखते प्रकृति सुन्दरी की स्वर्गीय आभा भयङ्कर क्रान्ति के रूप में परिवर्तित हो गई। प्रचण्ड पवन प्रवाहित होने लगा। आँधी आ गई। वायु के प्रबल झोंकों से वृक्षों की डालें उलटने-पलटने लगीं। वायु के साथ-साथ धूल उड़ कर शिवसिंह की आँखों में गिरने लगी। रास्ता चलना कठिन हो गया। जो वृक्षों की टहनियाँ परस्पर गाढ़ आलिङ्गन द्वारा अपने प्रेम का परिचय दे रही थीं, वे अब रोषपूर्वक एक-दूसरे से टकरा-टकरा कर भयङ्कर कोलाहल करने लगीं। सँकरी घाटियों में पवन पूरी मस्ती के साथ सीटियाँ बजाने लगा। पत्तों से छन-छन कर जो किञ्चित् चन्द्रिका पथिकों को सहारा दे रही थी, वह भी धूल से आच्छादित होकर वन-प्रदेश के बाहर ही रह गई। शिवसिंह को रास्ता न सूझता था। वे ऊँची-नीची चट्टानों को पार करते हुए किसी प्रकार बढ़ रहे थे। उस विशाल कानन में न पथ का ज्ञान रह गया था और न निशा का। किसी प्रकार वन को लाँघ जाने की ही धुन उन्हें सवार थी। वृक्षों पर से पक्षियों के छोटे-छोटे टेंटुए घोंसलों सहित गिर कर कष्ट से छटपटाने लगे। वन का हिंसक परिवार भी प्रबल क्रान्ति के कारण बिलबिला उठा।

प्रकृति की कठोरता की भी एक सीमा है। समस्त निरपराध प्राणियों की व्याकुलता को देख कर पवनदेव को दया आई। उन्होंने अपनी उच्छृङ्खल सेना को शान्त होने का अनुशासन दिया। धीरे-धीरे वन-प्रान्त में फिर शान्ति का साम्राज्य स्थापित हुआ। रात भी गई। पौ फटने लगी। ऊषा ने भगवान भास्कर के स्वागत का सन्देश दिया।

अपने पङ्गु सारथी अरुण के साथ, चपल सप्ताश्वों के रथ पर आसीन, भगवान दिनमणि ने प्राची दिशा को अनुरञ्जित करते हुए अपना प्रखर प्रकाश चारों दिशाओं में फैलाया। शिवसिंह ने देखा कि वन भी व्यतीत हो चुका है। परन्तु उन्हें जान पड़ने लगा कि वे किसी दूसरी दिशा की ओर बढ़ आए हैं। निकट के एक ग्राम में जाकर दीयागढ़ का रास्ता पूछने का निश्चय करके वे उस ओर अग्रसर हुए। ग्राम के निकट ही एक सघन वृक्ष के पार्श्ववर्ती शिवालय पर एक ऊँचे युवक को देखा। युवक अपने लाल घोड़े की बागडोर अपने हाथ में थामे आरोहण के लिए उद्यत खड़ा हुआ था।

उसका रङ्ग गोरा, छाती चौड़ी तथा भुजाएँ विशाल थीं। देखने-सुनने में वह वीर जान पड़ता था। वह पथिक था। पिछली भयानक रात्रि इसी मन्दिर में व्यतीत करने के उपरान्त वह पुनः प्रस्थान के हेतु उद्यत था। शिवसिंह

ने कहा—ठहरो पथिक ! क्या तुम मुझे दीयागढ़ का मार्ग बता सकते हो ?

सवार ने उनके प्रश्न का उत्तर न देते हुए कहा—क्या तुम कर्मागढ़ से आ रहे हो ?

शिवसिंह रास्ता भटक कर ऐसी उलटी-पुलटी दिशा में जा रहे थे कि देखने वाले को वे कर्मागढ़ की ओर से आते जान पड़ते थे। पथिक का प्रश्न सुन कर शिवसिंह झिझके। परन्तु उसे भुलावा देने के विचार से उन्होंने कहा—हाँ, उधर ही से आ रहा हूँ, परन्तु तुमने कैसे जाना ?

पथिक ने रहस्यपूर्ण दृष्टि से शिवसिंह की ओर देखते हुए कहा—"एक तो तुम उसी ओर से आ रहे हो, दूसरे दीयागढ़ की ओर जाना चाहते हो।" पथिक मुस्करा कर शिवसिंह की ओर ताकने लगा। उन्होंने देखा कि पथिक की बातों में अवश्य ही कोई रहस्य है। उन्होंने पूछा—"कर्मागढ़ से आने और दीयागढ़ जाने में परस्पर क्यों सम्बन्ध ? क्या दीयागढ़ जाने वाले कर्मागढ़ से ही आ सकते हैं ? दूसरी जगहों से नहीं ?

पथिक ने कहा—यह तो मैं नहीं कहता, परन्तु भयङ्कर वनों के बीच आँधी की अँधेरी रात्रि में भटकने वाला प्रेम को छोड़ कर और कौन हो सकता है ? बटोही ! तुम मुझे बातों में भुलावा देना चाहते हो, परन्तु मुझे तुम्हारा भेद भली-भाँति विदित है। अच्छा बताओ तुम्हारे महाराज तथा

दीयागढ़ की राजकुमारी चन्द्रावती में परस्पर प्रेम नहीं है? और तुम महाराज के गुप्त पत्र-वाहक नहीं हो? तुम्हारा साहस कहे दे रहा है कि तुम कोई अय्यार अथवा गुप्तचर हो। इस भयानक रात्रि में इस विकट निर्जन वन को पार कर जाना असाधारण काम है।

शिवसिंह का कौतूहल और भी अधिक बढ़ गया। वे बोल उठे—क्या कहते हो सवार! चन्द्रावती महाराज कर्मा-गढ़ से प्रेम करती हैं? यह तुमने कहाँ से सुना?

सवार ने ठहर कर कहा—"हाँ, यह तो मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि चन्द्रावती महाराज पर आसक्त है अथवा नहीं, परन्तु महाराज चन्द्रावती पर आसक्त हैं, यह तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ। मैंने स्वयं महाराज के मुँह से सुना है। मुझे भली-भाँति स्मरण है कि उस दिन महाराज कर्णसिंह जो किसी भारी शेर का समाचार पाकर आखेट के लिए गए हुए थे। परन्तु लौटते समय अपने साथियों को आगे बढ़ चलने का आदेश देकर वे स्वयं अपने किसी प्रिय सखा के साथ वन-प्रान्त में ही टहलने लगे। मेरे चचा कर्मागढ़ के पुलिस-विभाग में अफ़सर हैं। मैं इसी घोड़े पर सवार होकर उनसे मिलने जा रहा था। थक कर मैं उसी वन में विश्राम करने के लिए उतर पड़ा था। महाराज ने भी अपना घोड़ा मुझसे कुछ ही दूर पर बाँध दिया। परन्तु वन अत्यन्त सघन था। झाड़ी की ओट में वे मुझे न देख

सके। परन्तु मैं उन्हें देख सकता था तथा उनकी बातें भी सुन सकता था। कुछ देर तक मौन बने वे टहलते रहे। उनके सखा ने कहा—'महाराज ! आज तीन दिन से आप इतने अधिक उदास क्यों रहते हैं ? महाराज ने उत्तर दिया—'वयस्य, चन्द्रावती का विरह अब असह्य हो उठा है।'

मित्र ने हँस कर कहा—श्रीमन् ! इतनी साधारण सी बात के लिए आप इतने अधिक खिन्न हैं ? दीयागढ़-नरेश को यदि सूचना भी मिल जायगी तो वह महाराज के साथ अपनी कन्या का विवाह कर देने में अपना परम सौभाग्य समझेंगे और चन्द्रावती तो सहस्रों प्राण आपके रूप पर न्यौछावर करने में अपने को धन्य मानेगी।

महाराज ने कहा—'वयस्य, दीयागढ़ की बातें तुम्हें कुछ भी नहीं मालूम हैं। इसीलिए ऐसा कह रहे हो। इसी विवाह के सम्बन्ध में प्रस्ताव करने के कारण ही मुझमें और महाराज वीरसिंह में शत्रुता हो गई है।' इसके बाद महाराज और भी कुछ धीरे-धीरे कहते रहे, जो मैं भली-भाँति नहीं सुन सका। फिर महाराज के मित्र ने कहा—'महाराज ! यदि बात ऐसी है तो शीघ्र ही हमें अपने कुछ अय्यार दीयागढ़ भेजना चाहिए।'

महाराज टहलते हुए मुझसे कुछ दूर निकल गए। इधर मैंने विचार किया यदि महाराज ने मुझे देख भी लिया और

उन्हें तनिक भी सन्देह हो गया कि मैंने उनकी गुप्त मन्त्रणा सुन ली है, तो मुझे प्रचुर दण्ड दिए बिना वे न मानेंगे। मैंने अपना घोड़ा कस कर अपनी राह ली।

उसी समय मुझे विदित हुआ कि महाराज चन्द्रावती पर आसक्त हैं। सम्भव है, चन्द्रावती भी महाराज के प्रति आसक्त हो। बटोही! तुम्हारी वेष-भूषा देख कर ही मैंने समझ लिया कि तुम कुछ इसी सम्बन्ध में दीयागढ़ जा रहे हो। सच कहना मेरा अनुमान ठीक है न?"

शिवसिंह ने कहा—सवार! जान पड़ता है, संसार भर को सन्देह की दृष्टि से देखने का तुम्हारा स्वभाव है।

सवार ने उत्तर दिया—सम्भव है, मैं भूल कर रहा हूँ, परन्तु मुझे अब भी अपना अनुमान सत्य जान पड़ता है। जो हो, मुझे इन बातों से क्या? लो, मैं अपने रास्ते चला। तुम्हारा रास्ता उस ओर है। उसने उँगली उठा कर शिव-सिंह को पथ-निर्देश करते हुए घोड़े को एड़ लगाई।

शिवसिंह ने पुकार कर उसका नाम-ग्राम पूछा, परन्तु क्षण भर में वह आमों की वाटिकाओं के बीच विलीन हो गया। शिवसिंह इस विचित्र सवार की बातों पर विचार करते हुए दीयागढ़ की ओर अग्रसर हुए। उन्होंने मन ही मन कहा—महाराज कर्णसिंह का चन्द्रावती पर प्रेम है। सम्भव है, चन्द्रावती भी महाराज पर अनुरक्त हो। नहीं, यह नहीं हो सकता। चन्द्रावती को कर्णसिंह के दर्शन कैसे

हुए होंगे। कहाँ कर्मागढ़, कहाँ दीयागढ़ ? पर यह सवार कौन है ? इत्यादि अनेक बातों का चिन्तन करते हुए, वे उत्साह और साहस के साथ चले जा रहे थे।

× × ×

आज पाँच-छः दिन की कठिन यात्रा के उपरान्त शिव-सिंह को दीयागढ़ के दर्शन हुए। सन्ध्या हो चली थी। अब उन्हें चिन्ता हुई कि दीयागढ़-नरेश के सुरक्षित राजप्रासादों में प्रवेश पाना कोई सहज काम नहीं है। फिर उन्हें स्मरण आया कि रणसिंह ने राजकुमारी का जो चित्र महाराज को भेंट किया था, उसमें चन्द्रावती राज-उद्यान में पुष्प-चयन करती हुई बनाई गई थी। जान पड़ता है कि कुमारी को पुष्पों से विशेष प्रेम है। सुमन-वाटिकाओं की वसन्त-कालीन शोभा के बीच विहार करने की भी रुचि इनमें अवश्य है। यदि मालिन बन कर राज-उद्यान के निकट जाऊँ तो कदाचित् सफलता मिल सके।

× × ×

पाठक राज-उद्यान में देखिए—फिर वही जन-मन हुला-सिनी रजनी ! ज्योत्स्ना की वही अनुपम छटा। चन्द्रदेव की श्वेत रश्मि-मालाएँ दीयागढ़ के राज-उद्यान की कुसुम-मञ्जरियों पर पड़ कर दोनों राजकुमारियों के रमणी-सुलभ स्निग्ध हृदयों को लुभाए ले रही थीं। उधर आकाश-मण्डल में अकेले चन्द्रदेव असंख्य छिटकी हुई तारिकाओं के साथ

स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। परन्तु इधर दो चन्द्रवदनी राजकन्याएँ, चन्द्रावती तथा इन्दुमती, अपनी अनेक सुन्दर सखियों तथा दासियों से परिवेष्ठित वसन्तकालीन सौरभ का स्वर्गीय सुख लूट रही थीं। देवलोक में सुरबालाएँ नन्दन-कानन का आनन्द लूटती हुई भी आज इस अलौकिक सौन्दर्य तथा विलास के प्रति ईर्ष्या कर रही होंगी। दोनों कुमारियों के रूप-रङ्ग में अद्भुत साम्य था। चन्द्रावती के बाएँ गाल पर का काला तिल यदि हटा लिया जाय, तो दोनों में विभेद करना कठिन समस्या हो जाय। चन्द्रावती यौवन की उठान की मादकता में फूलों की मनोहर मञ्जरियों को चूमती फिरती थी। उसकी सखियाँ उसके इस पागलपन पर हँस रही थीं। अकस्मात् पश्चिम दिशा वाली खिड़की से सङ्गीत की सी ध्वनि सुनाई दी। चन्द्रावती ने ध्यान देकर सुना। किसी रमणी-कण्ठ से मस्ती भरे हुए स्वर में यह ध्वनि निकल रही थी :—

"गजरा बना के राजा लाई मलिनियाँ।
इस गजरे में मन गुहि लीन्हों, नेह की गाँठ लगाई मलिनियाँ।"

वह कुछ क्षण उसी ओर कान लगाए रही। छोटी राजकुमारी के प्रति उत्सुकतापूर्वक उसने कहा—इन्दु, कैसा मीठा गला है।

बाल-चपलता के साथ इन्दु ने उत्तर दिया—हाँ बहिन, चम्पा से कह कर उसे यहीं बुलवा लूँ?

चन्द्रावती ने दासी को आज्ञा दी—चम्पा, जा देख तो कौन है ? आवे तो बुला लाइयो।

विद्युत गति से चम्पा बाहर गई और क्षण भर बाद एक मालिन को लिवाए चली आई। उसके गाल गुलाबी और क़द लम्बा था। भरा हुआ बदन। उसके होठों पर मन्द-मन्द मधुर मुस्कान थी। उसके दाहिने हाथ में बड़ी चतुराई से सजाया हुआ फूलों का एक गुलदस्ता था।

चन्द्रावती की दासियाँ और सखियाँ मालिन को चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गईं। इन्दु चञ्चलतापूर्वक बोली—अच्छी मालिन, तूने गुलदस्ता कैसा सुन्दर बनाया है। मालिन इठलाती हुई मुस्कराई, गुलदस्ता इन्दु की ओर बढ़ाती हुई बोली—लीजिए कुमारी, आपका ही है। इन्दु ने झट गुलदस्ता लेकर सूँघते हुए कहा—भली मालिन! एक बार फिर वही गीत गा दे, जो अभी गा रही थी। मालिन ने कनखियों से चन्द्रा की ओर देखा और गाने लगी :—

"गजरा बना के राजा लाई मलिनियाँ।
इस गजरे में मन गुहि लीन्हों, नेह की गाँठ लगाई मलिनियाँ।"

बीच में ही रोक कर चन्द्रा बोली—वाह ! बड़ी चतुर मालिन है। लड़की, तू कल महल पर आइयो। मैं तुझे मालिन बनाऊँगी। तू मेरे लिए रोज़ एक गजरा बना कर लाया करियो।

इन्दु झट बोल उठी—और मेरे लिए एक गुलदस्ता। मालिन ने झुक कर आदाब बजाया। बोली, अहो भाग्य! चञ्चल गति से बल खाती हुई वह चली गई।

पाठक समझ गए होंगे कि मालिन और कोई नहीं, हमारे पूर्व-परिचित अय्यार शिवसिंह हैं। शिवसिंह को अपनी सफलता पर अपार सन्तोष हुआ। रात भर सुख की नींद सोए। प्रातःकाल होते ही उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर गजरा बनाया और एक बढ़िया गुलदस्ता। राज-प्रासाद के द्वार पर पहुँचे। भीतर सन्देश पहुँचाया गया, मालिन आई है। राजकुमारी ने उसे ऊपर बुला लिया। मालिन चन्द्रावती को हार दे ही रही थी कि इन्दु ने उसके हाथ से अपना गुलदस्ता छीन लिया।

चन्द्रावती ने महारानी से कह कर शिवसिंह को मालिन के काम पर नियुक्त कर लिया। शिवसिंह युक्ति-पूर्वक रह कर अपने काम की बातों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण तथा संग्रह करने लगे। अपनी मनोरञ्जक बातों से उन्होंने राजकुमारियों के हृदय पर पूर्ण शासन जमा लिया। राज-कुमारी उनसे तरह-तरह की भोली-भाली बातें किया करती। इन्दु तो बार-बार उनसे वही गीत गाने का आग्रह किया करती।

उस दिन चन्द्रा कुछ अनमनी सी थी। उसे सखियों की हँसी तथा दासियों की चखचख अच्छी न लगती थी।

उसने मालिन से कहा—"आज मेरा जी अच्छा नहीं है। सन्ध्या के समय मैं अकेली फुलवाड़ी जाऊँगी। तू वहीं मेरे लिए गजरा लाइयो।" मालिन ने कहा—"बहुत अच्छा।"

चन्द्रावती धीरे-धीरे सन्ध्या के समय अपनी यौवन-सुलभ मादक चाल के साथ उपवन की ओर बढ़ चली। गुलाब की एक झाड़ी के निकट जाकर खड़ी हो गई। उसने देखा, कुछ दूर पर मालती-कुञ्ज के निकट वही मालिन उसकी ओर पीठ किए बैठी है। उसके दाहिने हाथ में कोई पत्र सा है। उसे वह बड़े ध्यान से देख रही है। चन्द्रावती मन्द-मन्द गति से हौले-हौले पाँव रखती हुई उसकी ओर अग्रसर हुई तथा चुपचाप उसके पीछे जाकर खड़ी हो गई। उसने देखा, मालिन एक सुन्दर युवक के चित्र पर अपनी दृष्टि गड़ाए हुए है। राजकुमारी भी उस चित्र को देख कर मुग्ध चित्र-लिखित सी खड़ी रह गई। शिवसिंह ने जान-बूझ कर बड़ी देर तक पीछे की ओर न देखा। फिर अकस्मात् कुछ बनावटी घबराहट के साथ चन्द्रा की ओर ताकते हुए उन्होंने चित्र को अञ्चल में लुका लिया, और कुछ लज्जा से सिर झुका कर खड़े हो गए।

राजकुमारी ने पूछा—मालिन, यह किसका चित्र था? मुझे दिखाओ।

मालिन ने कहा—किसी का नहीं।

कुमारी ने कुछ मुसकुराहट, कुछ रोष के साथ कहा—मैं घण्टे भर से खड़ी देख रही थी और तू कहती है किसी का नहीं। निकाल अञ्चल से चित्र।

मालिन ने कहा—जब कुमारी ने देख ही लिया है, तब लेकर क्या करेंगी।

कुमारी—मैं उसे फिर से देखूँगी।

मालिन ने अनिच्छापूर्वक चित्र निकाल कर कुमारी के हाथ में दे दिया। कुमारी बड़ी देर तक अपलक नयनों से उस युवक के रूप-सौष्ठव का अवलोकन करती रही। फिर कुछ सलज्ज होकर बोली—मालिन, यह किसका चित्र है?

मालिन—कुमारी, यह मीलूगढ़ के महाराज चन्द्रसिंह का चित्र है। यदि कुमारी को अच्छा लगे तो ले लें।

चन्द्रा के गोरे गालों पर लज्जा के कारण गुलाबी दौड़ गई। उसने चित्र वेगपूर्वक लौटाते हुए कहा—हट, मैं इस चित्र को लेकर क्या करूँगी? तू तो बड़े ध्यान से उसे देख रही थी न? तू ही रख।

मालिन ने लजाते हुए कहा—कुमारी, राजकुमारों के चित्रों का मालिन के घर क्या काम? भीलनी रेशम के कपड़ों का मूल्य क्या जाने? मैं तो उसे योंही देख रही थी। आप रखना चाहें तो रख लें।

कुमारी ने कुछ ललचाते हुए कहा—"जा, जा, पगली, मुझे नहीं चाहिए।" कुछ ठहर कर फिर बोली—"लेकिन

ज़रा देखूँ तो कैसा है ?" हाथ में लेकर फिर लौटाते हुए धीरे से कहा—"चित्रकार अच्छा था।"

मालिन—मैंने तो कहा न, कुमारी इसे आप रख लें। मालिन की भेंट ही समझ कर रख लें।

राजकुमारी ने देखा, अवसर अच्छा है। उसने काँपते हुए स्वर में कहा—"ला, तू बहुत कहती है तो लिए लेती हूँ, परन्तु किसी से कहना नहीं।" हाथ बढ़ा कर उसने चित्र ले लिया ! उसकी उँगलियाँ काँप रही थीं। इधर-उधर देख कर अव्यवस्थित कण्ठ से चन्द्रावती ने कहा—"मेरा जी यहाँ भी नहीं लगता। मैं महल में जाती हूँ, तू भी जा।"

काँपते हुए करों से चित्र को अञ्चल में छिपा कर वह तीव्र गति से महल की ओर भाग गई।

शिवसिंह के हृदय में आनन्द की तरङ्ग-मालाएँ उद्वेलित होने लगीं। उन्होंने देखा कि चित्र के प्रथम दर्शन से कुमारी के हृदय में प्रेम का प्रबल अनल प्रज्वलित हो उठा है। परन्तु यह भी सुना है कि कुमारी के विवाह के सम्बन्ध में महाराज कर्णसिंह की प्रतिज्ञाएँ अत्यन्त भीषण हैं। फिर भी कुछ चिन्ता नहीं। कुमारी के हृदय पर महाराज के रूप-सौष्ठव का शासन होते ही हमारी आधी विजय हो गई। प्रेम का प्रबल आकर्षण दो प्राणियों को अनायास ही परस्पर एक-दूसरे के निकट खींच लाता है। मन ही मन मुसकुराते हुए शिवसिंह राज-उद्यान से बाहर चले गए।

इधर व्याकुल राजकुमारी गर्म साँस लेती हुई अपने एकान्त भवन में घबराई हुई जा बैठी। कभी वह लज्जा के कारण पश्चात्ताप करती कि मुझे क्या हो गया। मैंने चित्र मालिन से क्यों ले लिया। कभी फिर काम के कुसुम-शरों से आहत होकर वह बिलखने लगती। उसे ध्यान आया, यह चित्र मालिन को मिला कहाँ से ? लज्जा और घबराहट के कारण मैं उससे यह भी न पूछ सकी।

राजकुमारी चन्द्रावती के स्वभाव में एक विचित्र परिवर्तन हो गया। उसके चन्द्रमुख की स्वाभाविक मधुर मुसकान न जाने कहाँ विलीन हो गई। कई बार उसकी इच्छा हुई कि मालिन से पूछूँ कि तूने चित्र कहाँ से पाया, परन्तु रमणी-सुलभ लज्जा के कारण वह कभी साहस न कर सकी। अपनी प्रिय सखियों के साथ वह प्रायः उदास उपवन में भ्रमण करती रहती थी। कभी-कभी सखियों को भुलावा देने के लिए वह कृत्रिम हास्य द्वारा उनका समाधान करने का प्रयत्न करती, परन्तु उसकी चिन्ता तथा खिन्नता उस हास्य के बीच से स्पष्ट प्रकट होकर उसके गुप्त रहस्य का परदा उठा देती थी।

× × ×

उस दिन सन्ध्या के समय राजप्रासाद के एक सुविस्तृत एकान्त विश्राम-भवन में चन्द्रा अपनी दो-तीन प्रिय दासियों तथा मालिन के साथ बैठी हुई अपना सितार बजा रही

थी। इन्दु बड़े ध्यान से कान लगाए अपनी बहिन की चातुरी पर आश्चर्य कर रही थी। इन्दु को गाना सुनने की बहुत अधिक रुचि थी। वह बारम्बार मालिन से कहती—'तू गा दे।' मालिन मुसकुरा कर रह जाती। चन्द्रा की चपलता अब यौवन के भार से दब गई थी। वह इन्दु की चञ्चलता पर ध्यान दिए बिना ही अपनी कोमल उँगलियों को तारों पर नचा कर कोई अत्यन्त करुण रागिनी बजा रही थी। काँपते हुए स्वर उँगलियों से निकल कर मानो चन्द्रा के हृदय की व्यथा का भेद खोले दे रहे थे। मालिन पीछे वाली खिड़की से बाहर की ओर ताक रही थी। धीरे-धीरे अँधेरा हो गया। परन्तु चन्द्रा ने अपना करुण सङ्गीत बन्द न किया। अकस्मात् पीछे की ओर कुछ हलके से धड़ाके का शब्द हुआ। चन्द्रा का ध्यान भङ्ग हुआ। उसने चौंक कर कहा—"यह शब्द कैसा ? चम्पा ! देख तो क्या है ?" चम्पा उसी खिड़की की राह तीव्र वेग से बाहर निकली, उसके पीछे-पीछे दूसरी सखी हिरिया भी यह कहती हुई दौड़ी—"मैं भी आती हूँ, तुझे अकेले अँधेरे में डर लगेगा।"

दोनों ने अँधेरे में इधर-उधर देखा। कुछ सूझता न था। साहस करके दोनों पश्चिम की ओर कुछ पग बढ़ीं। सहसा किसी ने पीछे से आकर दोनों के मुँह में कपड़ा भर दिया। कपड़े से न जाने कैसी दुर्गन्धि आ रही थी।

क्षण भर में ही दोनों अचेत हो गईं। उस निविड़ तम के बीच एक पुरुष ने कहा—चतुर! अब तो काम हो गया समझो।

चतुरसिंह ने उत्तर दिया—नहीं हरि! अभी तनिक भी असावधानी होते ही हमारे प्राण सङ्कट में पड़ जावेंगे। तुम शीघ्र ही इनको दूर करके रूप परिवर्तन करो। तुम चम्पा बनो, मैं हिरिया।

इधर चन्द्रा ने देखा कि चम्पा को आने में देर हो रही है। वह अपनी आन्तरिक व्यथा के कारण किसी स्थान पर अधिक देर तक खाली बैठी न रह सकती थी। उसने कहा—इन्दु, चम्पा आवे तो मेरे पास भेज दीजियो। मैं शयन-गृह में जाती हूँ। मेरा जी नहीं लगता।

इन्दु कुछ खिन्न होकर बोली—तुम्हारा जी तो कभी हम लोगों के साथ लगता ही नहीं। न जाने तुम्हें क्या हो गया है बहिन? बैठो न, चम्पा आती ही होगी।

चन्द्रा उत्तर दिए बिना ही अन्यमनस्क होकर ऊपर शयनागार की ओर चली गई।

इधर इन्दु ने खिड़की से बाहर सिर निकाल कर अधीर स्वर में पुकारा—अरी चम्पा! क्या करने लगी?

क्षण भर की स्तब्धता के उपरान्त हिरिया बोली—आई सरकार!

दोनों दासियाँ हाँफती हुई कमरे के भीतर आईं। इन्दु ने झिड़कते हुए कहा—इतनी देर तक क्या कर रही थी?

चम्पा—कुछ नहीं सरकार, इधर-उधर ढूँढ़ रही थी। कुछ तो नहीं मिला। परन्तु हिरिया ने देखिए कैसा सुन्दर रूमाल पाया है। देतो नहीं है।

इन्दु—देखूँ तो कैसा है?

हिरिया—आप क्या करेंगी सरकार, मैंने तो पड़ा पाया है।

इन्दु—अरी तो मरी क्यों जाती है। मैं कुछ लिए लेती हूँ। ज़रा देखूँगी।

हिरिया ने अनिच्छापूर्वक रूमाल इन्दु की ओर बढ़ा दिया। रेशम का रूमाल था। उससे बड़ी भीनी सुगन्ध आ रही थी। उस पर धूल सरीखी न जाने क्या जमी हुई थी। इन्दु ने अपनी स्वाभाविक चपलता के कारण रूमाल को झटक दिया। सारे कमरे में सहस्रों फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध फैल गई। उस सौरभ में ऐसी मादकता थी कि इन्दु तथा मालिन आदि मस्ती में झूमने लगीं। इतनी देर चम्पा और हिरिया अपनी नाक में एक-एक रूमाल लगाए कुछ स्वाभाविक हाव के साथ खड़ी थीं। शनैः-शनैः सबकी चेतनता जाती रही। इन्दु को ऐसा जान पड़ा मानो अनेक वर्षों के परिश्रम के उपरान्त किसी सुख-शय्या पर सो गई हो। हिरिया ने कहा—हरिसिंह! जल्दी करो।

राजकुमारी चन्द्रावती को उठा कर तुम खिड़की के बाहर निकलो। मैं इधर देखता हूँ, कोई आता तो नहीं।

चम्पा, जोकि वास्तव में हरिसिंह थे, इन्दु को गोद में उठा कर खिड़की के बाहर कूद पड़े। हिरिया वेशधारी चतुरसिंह भी विद्युत्-वेग के साथ बाहर हुए।

बड़ी देर की गहरी निद्रा के बाद शिवसिंह को चेतना हुई। चकित होकर इधर-उधर देखा। इन्दु न थी। उनका हृदय सशङ्क हो गया। अकस्मात् उन्हें लाल अश्वारोही की बातों का स्मरण आया। कुमारी के अनिष्ट भय से उनका हृदय व्याकुल हो गया। राजभवन के एक कोने से दूसरे कोने तक इस दुर्घटना का समाचार फैल गया। महल भर में कुहराम मच गया। चारों ओर दास-दासी तथा सैनिक दौड़ पड़े, परन्तु व्यर्थ।

शिवसिंह ने विचार किया—निस्सन्देह, यह कर्मागढ़-नरेश की करतूत जान पड़ती है। परन्तु रूमाल तो चम्पा ने लाकर दिया था। सारी घटना की ध्यानपूर्वक आलोचना करते ही समस्त व्यापार उनकी समझ में आ गया। उन्होंने मन ही मन कहा—जान पड़ता है, वह धड़ाके का शब्द भी किसी अय्यार की करतूत है। वह चम्पा बन कर, चन्द्रा के भ्रम में इन्दु को चुरा ले गया है। ओह! वे दोनों अपनी नाक पर रूमाल लगाए थीं। फिर भी यह साधारण सी बात मेरी समझ में न आई। अब क्या करूँ?

सहसा उनके ध्यान में न जाने क्या विचार आया। वे दीयागढ़ के राजप्रासादों को छोड़ कर विद्युत्-वेग के साथ मील्हगढ़ की ओर चल पड़े। कुछ ही घण्टों के उपरान्त विशाल वनराज ने उन्हें अपने वक्षस्थल में छिपा लिया।

मांगढ़ का गगनचुम्बी विशाल राज-प्रासाद पृथ्वी का मूर्तिमान् उल्लास ही जान पड़ता था। पीछे अङ्ग-रक्षकों के समान गर्व से मस्तक उठाए हुए हरे-भरे पर्वत खड़े हुए थे। किनारे यौवन-मद से भरी हुई मन्द-गामिनी कलनादिनी सरिता बह रही थी और सामने नन्दन-वन के समान आनन्द-उपवन पथिकों और दर्शकों का हृदय से अभिनन्दन कर रहा था।

सन्ध्या का समय था। वासन्ती वायु की गुद्गुदी से पक्षियों ने अपूर्व चहक मचा रक्खी थी। जान पड़ता था, मानो वह उपवन-स्थली प्रेमोन्मादिनी हो अपने तम्बूरे से सभी तरह के स्वर एक साथ निकाल रही है। लताएँ झूल-झूल कर इस प्रकार वृक्षों के ऊपर गिर रही थीं, मानो मदमत्त प्रौढ़ा नायिकाएँ ही हों। अस्ताचलगामी सूर्य भगवान की किरणें इस समय ऊँचे वृक्षों की चोटियों पर

सोने का पानी फेर रही थीं। परन्तु साथ ही साथ लताओं की झुरमुट में छिपा हुआ घना अन्धकार मन ही मन यह सोच कर हँस रहा था कि अभी थोड़ी ही देर में तो यह सुनहली रङ्गत हवा हो जायगी और फिर मैं इस सम्पूर्ण जगत् का सम्राट् बन जाऊँगा।

ठीक इसी समय उस महल के मन्त्रणागृह में राजा कर्णसिंह अपने मन्त्री को लिए बैठे हुए हैं। उस मन्त्रणा-गृह की अपूर्व सजावट थी। भाँति-भाँति के चित्र मानो अभी बोले पड़ते थे। उनके सामने बड़े-बड़े शीशे इस तरह सजे थे कि एक ही चित्र सहस्रों की संख्या में जान पड़ता था। रङ्ग-बिरङ्गे नक्काशीदार पत्थरों के संयोग से ऐसी बेलें काढ़ी गई थीं कि देखते ही बनता था। प्रकाश के लिए जो झाड़ और फ़ानूस लगे थे, उन्होंने तो वहाँ की शोभा को दस गुनी कर दिया था। बाहरी आदमी तो वहाँ की एक-एक वस्तु पर ही घण्टों अपनी दृष्टि लगाए रह सकता था और उसे वे पदार्थ नित्य नए ही जान पड़ सकते थे। परन्तु महाराज कर्णसिंह तो इस समय दूसरी ही चिन्ता में थे। वे इन निर्जीव सजावटों की ओर नहीं, वरन् किसी सजीव सौन्दर्य की ओर ध्यानावस्थित थे। कभी हाथ पर सिर रख लेते, तो कभी लम्बी साँस लेकर सिर पीछे लटका देते थे। कभी बड़ी देर तक चुपचाप बैठे ही रहते, तो कभी व्यग्रता के साथ उठ कर इधर-उधर टहलने लगते थे। सन्ध्या हो

रही थी और अँधेरा बढ़ता आ रहा था, फिर भी राजा कर्णसिंह ने वह कमरा नहीं त्यागा था। मन्त्री भी उनकी वह दशा देख मूक समवेदना प्रकट करते हुए वहीं बैठे थे।

निदान कुछ देर के बाद शान्ति भङ्ग करते हुए राजा ने कहा—मन्त्री जी ! यहाँ तो जी ऊब रहा है। चलो, उपवन ही में घूमें।

मन्त्री ने भी हाँ में हाँ मिलाई और दोनों उपवन की ओर बढ़ चले। वहाँ इस समय पक्षियों का कलरव बन्द हो गया था और सन्ध्या की लाली निशा के अन्धकार में परिणत हो गई थी। थोड़ी ही देर में चन्द्रदेव का उदय होने वाला था। यह दृश्य देख राजा बोले—मन्त्री जी ! मेरी भी आशारूपी सन्ध्या बीत चुकी और हृदय-गगन पर निराशा रूपी अन्धकार ने अपना घर कर लिया है। अब क्या यहाँ भी चन्द्रावती अपने चन्द्रमुख के चमत्कार का सञ्चार करेगी ? हाय ! मन्त्री जी ! मैं उसके बिना बहुत विह्वल हो रहा हूँ। आज अपने अय्यार चतुरसिंह और हरिसिंह को गए सात दिन हो चुके और अभी तक कोई ख़बर न मिली। जब से मैंने उसके रूप की चर्चा सुनी है, तभी से हृदय विह्वल हो उठा था। जब देखा तब तो कहना ही क्या था। बस उसी दिन से सङ्कल्प कर चुका कि जब तक उसे अपने पर्यङ्क की सहचरी न बनाऊँगा, तब तक चैन न लूँगा। इसी सङ्कल्प के कारण मुझे दीयागढ़-नरेश का

शत्रु भी बनना पड़ा। इसी सङ्कल्प के कारण मुझे बड़े-बड़े जासूस रखने पड़े। इसी सङ्कल्प के कारण मुझे कई बार वन-वन भटकना पड़ा। परन्तु इतना सब होते हुए भी यह सङ्कल्प अभी तक पूर्ण होते नहीं दिखाई पड़ता। क्या मुझे वह चन्द्रवदना चन्द्रावती न मिलेगी ? आह ! उसके बिना मेरा राज्य व्यर्थ है, मेरा यौवन व्यर्थ है, स्वयम् मेरा जीवन भी व्यर्थ है। वह मिल जाय तो फिर मुझे जङ्गल में मङ्गल है। तुच्छ झोपड़ी में मुझे इन्द्रभवन का आनन्द आएगा। मन्त्री जी, उसकी रूप-छटा का क्या वर्णन करूँ। बस यही समझिए कि जिसने देखा उसी के नेत्र सफल हो गए। उसकी लटें काली नागिन के समान हृदय पर लोट रही हैं। उसके गोल-गोल गुलाबी गाल ऊषा की लाली को भी मात करते हैं और उन पर का वह काला तिल, वही तिल जो चन्द्रावती के रूप को इन्दुमती से पृथक् बनाता है, ऐसा जान पड़ता है, मानो माणिक में नीलम जड़ा हो, अथवा रूप के ख़ज़ाने पर हबशी पहरा दे रहा हो। उसकी उस रसीली चितवन का क्या हाल कहूँ। मन्त्री जी, मनुष्य तो मनुष्य है, यदि पशु-पक्षी पर भी वह चितवन भरपूर पड़ जाय तो एकदम बेहोश बना दे। और वह वाणी ! ओह ! जिसने उसे सुना वही जानता है। मानो कानों में अमृत घोल दिया गया। उसे सुन कर कोयल लज्जित हो जाती है, वीणा अपनी झङ्कार

भूल जाती है। उसके लाल-लाल ओंठ एकदम मद के प्याले ही समझिए। उनके बिना मेरी प्यास कैसे बुझ सकती है। इतना सब होते हुए भी उसका हृदय उसके उरोजों के समान ही कठोर है। आह! क्या वह कभी मुझे हृदय से प्यार करेगी? स्त्री-सुलभ लज्जा के सामान्य भाव में उसकी कमर सौ-सौ बल खा जाती है और उसकी सघन जङ्घाओं का भार उसे बरबस ही गजगामिनी बना दिया करता है। चन्द्रा पद्मिनी है पद्मिनी। सुना मन्त्री जी! क्या मुझे वह कभी न मिल सकेगी?

मन्त्री ने समवेदना प्रकट करते हुए सिर हिला कर बड़े ही गम्भीर भाव से कहा—महाराज, धैर्य धारण कीजिए। वह आपको अवश्य प्राप्त होगी। आपके अय्यार चतुरसिंह और हरिसिंह जगत-प्रसिद्ध हैं। वे असम्भव को भी सम्भव कर दिखा सकते हैं। ऐसी कोई बात नहीं, जो वे न कर सकते हों। वे आपकी प्रेयसी राजकुमारी को अवश्य आपके पास ले आवेंगे।

राजा ने अधीर होकर कहा—मन्त्री जी! सात दिन बीत चुके। उनके वादे का समय पूरा हो चुका, अब तक आना तो दूर रहा, सम्वाद भी उन्होंने किसी प्रकार का न भेजा। क्या यही कार्य-सिद्धि का लक्षण है?

मन्त्री—महाराज! अब भी समय है। वे लोग अपने वचन के पक्के हैं। आते ही होंगे।

राजा—और यदि वे न आए ?

मन्त्री—तो मैं स्वयं जाऊँगा अथवा कोई दूसरा उत्तम प्रबन्ध करूँगा।

राजा—परन्तु मन्त्री जी, दीयागढ़-नरेश मुझसे बड़ा द्वेष रखते हैं। उन्हें विदित हो चुका है कि मैं चन्द्रावती को चाहने लगा हूँ। इसीलिए उन्होंने बड़ा कड़ा प्रबन्ध कर रक्खा होगा।

मन्त्री—कुछ भी हो, लेकिन आख़िर हम लोगों में भी तो कुछ शक्ति और बुद्धि है।

राजा—मन्त्री जी, यदि चन्द्रावती न मिली तो इन्दुमती ही सही। दोनों बहिनें एक ही साँचे में ढली हैं। दोनों ही सौन्दर्य-तरु की अपूर्व अधखिली कलियाँ हैं। दोनों में ही विधाता ने जगत् के सम्पूर्ण लावण्य को एकदम भर दिया है। मैं समझता हूँ, इन्दुमती के लिए इतना कड़ा पहरा न होगा।

मन्त्री—हो सकता है। परन्तु महाराज, मेरा तो प्रयत्न चन्द्रावती के ही लिए होगा।

राजा—हाँ मन्त्री जी, यही होना भी चाहिए। मेरा वास्तविक आकर्षण तो चन्द्रावती के ही लिए है। हाय! चन्द्रा! क्या तुम मुझे इस जीवन में न मिल सकोगी। क्या मैं तुम्हारे विरह में यों ही तड़पता रह जाऊँगा। क्या मेरे जीवन की सब घड़ियाँ इसी प्रकार एक-एक करके

बीतती चली जायँगी और मैं सर्वस्व हारे हुए जुआड़ी की भाँति, आँधियों के झोंके खाए हुए वन्य कुसुम की भाँति, ऊसर में पड़ी तड़पती हुई ओस-बूँद की भाँति योंही कराल-काल के गाल में समा जाऊँगा। ओह! मैं क्या से क्या हो गया। इस अन्धे प्रेम के विरह ने मुझे कहाँ तक पागल बना रक्खा है।

वासन्ती वायु इस समय भी बह रही थी। उसकी मीठी थपकियाँ राजा कर्णसिंह के लिए कुसुम-सायक का काम दे रही थीं। इतने ही में चन्द्रदेव उदित हुए। सम्पूर्ण संसार आनन्द से खिलखिला उठा। चारों ओर चमकीली चीज़ों पर चाँदी की वर्षा सी हो गई। वृत्तों और लताओं के बीच से छन-छन कर चन्द्रमा की किरणें कर्णसिंह को जाग्रत करके मानो पूछने लगीं—कहो राजा, क्या हाल है!

मन्त्री ने देखा कि मामला बेढब है। महाराज कर्णसिंह कब तक इस प्रकार टहलते रहेंगे। इन्हें शीघ्र मन्त्रणा-गृह में ले जाना चाहिए, और फिर वहाँ से शयन-गृह ले जाकर शयन करा देना चाहिए। परन्तु महाराज तो चन्द्र और चन्द्रावती के मुख-चन्द्र की तुलना में तल्लीन थे। उन्हें अपनी परिस्थिति का ज्ञान ही कहाँ था! उन्होंने मन ही मन चन्द्र के न जाने कितने दोष ढूँढ़ डाले और चन्द्रावती का मुख-चन्द्र उन्हें न जाने कितना अपूर्व, कितना उज्ज्वल,

कितना निष्कलङ्क जान पड़ने लगा। उसका ऐसा वीणा-विनिन्दित स्वर चन्द्रमा में कहाँ, वैसा मृदु मन्द हास्य, जिस पर हीरे न्योछावर हो जाते थे, कठोर चन्द्र में कहाँ! उसका ऐसा वह मर्म-भेदी कटाक्ष बेचारे चन्द्र में कहाँ। चन्द्र घटता है बढ़ता है, केवल रात्रि ही में कुछ उजाला देता है और इतना होकर भी छाती पर कीचड़ लपेटे हुए है। परन्तु चन्द्रावती का मुख तो सदैव सम प्रकाशमान होकर भी सदैव नूतन है, सदैव वृद्धिगत है और सर्वाङ्ग से उज्ज्वल है। भला इन दोनों की कहीं बराबरी हो सकती है।

इसी तरह राजा कर्णसिंह न जाने कितना सोचते चले जाते, परन्तु मन्त्री से न रहा गया। उन्होंने महाराज की तन्द्रा भङ्ग करते हुए कहा—श्रीमन्! इस अन्धकार के समय उपवन में घूमना ठीक नहीं। चलिए, मन्त्रणा-गृह की ओर चलें।

कठपुतली के समान बिना कुछ सोचे-विचारे राजा कर्णसिंह मन्त्री के साथ मन्त्रणा-गृह की ओर हो लिए। वहाँ पहुँच गए तब उन्हें ज्ञान हुआ। इस समय भवन के प्रदीपों से उस गृह की जगमगाहट बड़ी विचित्र हो रही थी। एक-एक चित्र मानो सजीव बन उठा था। महल के सुदूरतम प्रदेश से आती हुई सङ्गीत-लहरियाँ उस गृह में और भी अपूर्व उल्लास भर रही थीं। राजा का विरह फिर

तीव्र हो उठा। उन्होंने कहा—"मन्त्री जी! देखो तो राज-पथ अथवा गुप्तपथ से किसी के आने की आहट तो नहीं आ रही है।" दोनों ने बड़ी देर तक दोनों ओर कान लगाए, परन्तु हवा की सनसनाहट के सिवाय और कोई शब्द सुनाई न दिया। क्रमशः प्रहरी ने आठ, नौ, दस, ग्यारह और बारह के घण्टे बजाए, परन्तु न तो राजा को नींद थी और न मन्त्री ही उन्हें अकेले छोड़ कर जा सकते थे। राजा की इस बेचैनी को मन्त्री के अतिरिक्त न कोई देखने वाला था और न सुनने वाला। हाँ, व्योम-विहारी चन्द्रदेव खिड़कियों की राह से यह दृश्य अवश्य देख रहे थे और खिलखिला कर हँस रहे थे। हाँ, कभी-कभी निशा-चर पक्षी भी राजा की आहों का परिहास करता हुआ कुछ बोल उठता था।

महाराज को उस अवस्था में बैठे-बैठे कुछ झपकी सी आ गई। उन्होंने देखा कि उनका हृदय चुराने वाली सुन्दरी उनके सामने ही खड़ी है, परन्तु उन दोनों के बीच में एक ऐसी गहरी खाँई है कि उन दोनों का मिलाप होना अत्यन्त कठिन है। उस सुन्दरी के रूप से आकृष्ट होकर महाराज ने खाँई कूद जाने का निश्चय किया और इस दुःसाहस के लिए ज्योंही उन्होंने छलाँग मारी, त्योंही उनकी आँख खुल गई और उन्होंने अपने को कोच से अलग ज़मीन पर पड़ा पाया। धड़ाके की आवाज़ से मन्त्री की भी आँखें

खुल गईं और वे विस्मय विस्फारित नेत्रों से यह विचित्र व्यापार देखने लगे।

राजा ने कहा—मन्त्री जी! मैंने अभी-अभी एक विचित्र स्वप्न देखा है।

मन्त्री—वह क्या महाराज?

राजा—मेरी प्रेयसी मेरे सम्मुख खड़ी है।

मन्त्री—तब तो बधाई है महाराज! अपने अय्यार लोग कुमारी को लेकर आते ही होंगे।

राजा—परन्तु मैंने यह भी तो देखा कि मैं उसे पा नहीं सकता हूँ।

मन्त्री—इस अंश पर विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं। स्वप्न तो ऐसे हुआ ही करते हैं।

राजा—परन्तु क्या यह सम्भव है कि स्वप्न का पहिला अंश सच निकले और दूसरा झूठ हो जाय।

मन्त्री—विधाता की सृष्टि में सब कुछ सम्भव है, महाराज!

राजा—तब तो मन्त्री जी और भी चौकन्ने हो जाओ। आज सातवाँ दिन है। सम्भव है कि आज ही अपने अय्यार लोग आते हों। (राजपथ की ओर कान लगा कर) वह देखो! कुछ खड़खड़ाहट हो रही है। जान पड़ता है, वे लोग आ गए।

मन्त्री जी यह सुनते ही झट बाहर की ओर लपके

और शीघ्र ही आकर बोले—नहीं महाराज, वायु के प्रवाह में वह सूखे पत्तों की खड़खड़ाहट थी।

थोड़ी देर में उसी तरह की कुछ ध्वनि गुप्त-पथ की ओर से आई। इस ध्वनि में और अनियमित सूखी खड़खड़ाहट में अन्तर था।

महाराज का हृदय धड़क उठा। वे शीघ्रता के साथ गुप्त-पथ की ओर लपके। मन्त्री भी उनके पीछे-पीछे गए। दोनों बड़ी देर तक उस ध्वनि की ओर कान लगाए हुए थे। क्रमशः वह ध्वनि स्पष्ट होने लगी। वह दो पथिकों की पद-ध्वनि थी। आह, वे लोग तो अब दिखाई भी पड़ने लगे। निश्चय, निश्चय वे दोनों अपने अय्यार ही होंगे। दोनों एक बड़ी सी गठरी लादे हुए थे। बस महाराज का आनन्द उमड़ पड़ा। वे शीघ्र ही अपने अय्यार चतुरसिंह और हरि-सिंह के पास बढ़ गए और उस गठरी पर हाथ लगा ही दिया। सुकोमल रमणी के शरीर का स्पर्श पाकर उनका हृदय फूल उठा और रोमाञ्चित हाथों से उन्होंने अय्यारों की पीठ ठोंकना प्रारम्भ कर दिया। मन्त्रणा-गृह तक वह गठरी लाना कठिन हो गया। किसी तरह झटपट गठरी खोली गई और सुकोमल शय्या पर बेहोश रूप की राशि राजकुमारी लिटा दी गई। मन्त्रणा-गृह उस अनिन्द्य सुन्दर रूप-राशि की चमक से एकदम प्रकाशित हो उठा। राजा का मन-मयूर मत्त होकर नाचने लगा। मानो तृषित चातक

को स्वाती का जल मिल गया। मानो जन्म-रङ्क को पारस मणि प्राप्त हो गया। राजा तुरन्त ही उसके साथ चिपट जाना चाहते थे। परन्तु वंश-परम्परागत आर्य भावों ने धर्म की मर्यादा को यहाँ तक विश्रृङ्खलित न होने दिया। एक आर्य राजकन्या को चोरी से बुला मँगाना ही एक भीषण अपराध था, फिर उस पर ऐसी उद्दण्डता दिखाना तो नितान्त नारकीय बात थी। पहला विषय यदि किसी विशेष अवस्था में राजाओं के लिए क्षम्य हो, तो दूसरा तो किसी भी अवस्था में किसी के लिए क्षम्य नहीं हो सकता। वास्तविक आनन्द तो तब है, जब हृदयों का सम्मेलन हो। बलपूर्वक शरीरों के सम्पर्क में न कोई आनन्द है न कुछ शान्ति।

महाराज कर्णसिंह ने ग़ौर से उस मुखाकृति की ओर देखा। ओह! धोखा हुआ। यह तो चन्द्रावती नहीं, बल्कि इन्दुमती है। अय्यार यह सुनते ही सन्न हो गए। भावी पुरस्कार की आशा-लता पर तुषार पड़ गया। वे काठ के पुतले बन कर खड़े रह गए। मन्त्री ने महाराज का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। महाराज यह देख अय्यारों का उत्साहवर्धन करते हुए बोले—कोई चिन्ता नहीं। इन्दुमती ही सही। मेरे लिए दोनों बराबर हैं। चन्द्रावती के लिए फिर कभी देखा जायगा। मन्त्री जी, इन्दुमती के रहने की सुयोग्य व्यवस्था कर दीजिए और इसे होश में लाने का प्रयत्न कीजिए। मैं अभी आता हूँ।

मन्त्री अय्यारों के साथ इन्दुमती को लेकर दूसरे कमरे में चले गए। वहाँ राजकुमारी के रहने के लिए सभी तरह की सुविधाएँ पहिले ही से कर रक्खी गई थीं। विलासिता-पूर्ण चित्रों से वह कमरा भरा हुआ था। तरह-तरह के बेल-बूटों से बना हुआ मोटा क़ालीन फ़र्श पर लेटा हुआ था। रेशम और मख़मल के मोटे गदेले जगह-जगह बिछे हुए थे। बढ़िया पात्रों में तरह-तरह के भोज्य और पेय पदार्थ सजाए गए थे। उत्तम सुगन्धियों से भरे इत्रदान अपनी मनोमोहिनी महक फैला रहे थे। खिड़कियाँ खुली हुई थीं, जिनसे चन्द्रप्रकाश के साथ ही वासन्ती हवा का प्रवाह आप ही आप आ रहा था। ऐसे स्थान पर राज-कुमारी को अकेली छोड़ मन्त्री और अय्यार लोग राजा कर्णसिंह के पास चले आए।

उस स्थान पर इन्दुमती अधिक देर तक कैसे बेहोश रह सकती थी। शीघ्र ही उसकी मूर्च्छा टूटी। उसने आँखें मल कर देखा तो एक विचित्र ही स्थान उसे दिखाई पड़ा। वह इस स्थान-परिवर्तन का रहस्य कुछ समझ ही न सकी। "क्या यह स्वप्न है ? वह तो अपनी बहिन चन्द्रावती तथा मालिन और चम्पा इत्यादि के साथ अपने घर पर थी। हाँ, धड़ाके के शब्द पर चम्पा और हिरिया बाहर गई थीं। उसी समय बहिन चन्द्रावती भी ऊपर चली गई थीं। फिर चम्पा और हिरिया आईं। फिर

एक मनोमोहक सुगन्धि सी फैल गई। फिर क्या हुआ ?"
बस इसी तरह एक-एक कर वे सब बातें इन्दुमती के स्मृति-पट पर सिनेमा की भाँति आने लगीं। इन्दुमती इस नए घर का कुछ रहस्य समझ ही न सकी। वह उठी और उठ कर चारों ओर घूमने लगी, परन्तु प्रत्येक वस्तुएँ उसे एकदम नूतन ही जान पड़ीं। घर भी नया, घर का कमरा भी नया, कमरे की सजावट भी नई और सामने का उद्यान इत्यादि भी नया ही नया। यह सब है क्या ? क्या यह स्वप्न है ? उसने अपनी आँखों से अपनी उँगलियाँ गिनीं, अपनी भुजा पर अपने हाथ से चिमटी काट कर वेदना का अनुभव किया। नहीं, नहीं, यह स्वप्न नहीं, यह तो प्रत्यक्ष की बात है। फिर यह कौन सा स्थान है और वह कहाँ आ गई ? क्या समीप में कोई ऐसा नहीं है, जो उसका यह कौतूहल दूर कर दे। कुछ क्षण ठहरने के बाद वह पुकारने लगी—"चम्पा ! चम्पा !" किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर वह बोली—"हिरिया ! हिरिया !" फिर भी कोई उत्तर नहीं। अबकी बार वह कुछ घबराई। आख़िर जब कोई उपाय न देखा, तो अपनी तकियों से चिपट कर अपने बिस्तर पर आँख बन्द करके लेट रही।

राजा कर्णसिंह एक स्थान से छिपे हुए यह सब दृश्य देख रहे थे। जब उन्होंने इन्दुमती का यह हाल देखा तो दबे पैरों वे उस गृह में जा पहुँचे और उसके सामने खड़े

होकर बड़े ही कोमल स्वर में कहने लगे—प्यारी इन्दु, आँखें खोलो।

मानो इन्दुमती को सर्प ने डस लिया हो, इस शीघ्रता के साथ वह एकदम उठ खड़ी हुई और अपने सामने एक अपरिचित युवा मनुष्य को देख व्यग्रता के साथ बोली—आप कौन हैं ? मैं कहाँ हूँ ?

राजा कर्णसिंह फिर उसी मृदु स्वर में कहने लगे—प्रिये ! मैं तुम्हारा बेमोल का गुलाम कर्मागढ़-नरेश कर्णसिंह हूँ। यह तुम्हारा ही महल है। मेरा पत्नीत्व ग्रहण करके तुम इसे स्वीकार करो।

मन के भाव दबा कर इन्दुमती ने पूछा—मैं यहाँ कैसे आई ?

राजा—मेरे अय्यारों की आवाज़ों से जब चम्पा और हिरिया बाहर आईं, तब मेरे वे ही अय्यार चम्पा और हिरिया बन कर तुम्हें बेहोश करके उठा लाए। वे लोग तो असल में तुम्हारी बहिन चन्द्रावती के लिए भेजे गए थे। चन्द्रावती के बदले तुम्हीं हाथ आ गईं। ख़ैर, चन्द्रा और इन्दु में अन्तर ही क्या है। जो वह है वही तुम हो। यदि तुम्हीं मेरी पत्नी बन जाओ तो भी मेरा जन्म सफल हो जाय।

इन्दु—ओह ! आप एक राज्य के अधीश्वर होकर ऐसी अनर्गल बातें क्यों बक रहे हैं ? क्या आपके यहाँ

ऐसा ही न्याय होता है ? पत्नी बनाना क्या कोई हँसी-खेल है ? धर-बाँध कर क्या कोई राजकुमारी पत्नी बनाई जा सकती है ?

राजा—मैं विवश हूँ। मैं तुम लोगों के रूप का पागल भौंरा बन गया था। मैं तुम्हें पाए बिना किसी प्रकार जी ही नहीं सकता था। मैं जानता था कि तुम्हारे पिता मुझे नहीं चाहते। मुझे यह निश्चय था कि वे तुममें से किसी को भी मेरी पत्नी बनने न देंगे। इसलिए मुझे विवश होकर यह राक्षसी कृत्य करना पड़ा। मुझे विश्वास है कि यदि तुम स्वेच्छापूर्वक मेरी पत्नी बन जाओगी, तो कुछ दिन में तुम्हारे पिता के हृदय का रोष भी दूर हो जावेगा और वे मुझे अपने ही पुत्र के समान प्यार करने लगेंगे। इसीलिए प्रिये ! मैं तुमसे इस प्रकार प्रणय-भिक्षा माँग रहा हूँ।

इन्दु—तो क्या ऐसी स्थिति में यही एक उपाय हुआ करता है ? क्या आप मेरे पिता को और किसी तरह प्रसन्न नहीं कर सकते थे ? राजन् ! मैं आपके इस उपाय को अत्यन्त घृणित समझती हूँ। यह सरासर चोरी है। भीषण डकैती है। अक्षम्य अपराध और अन्याय है। संसार में चाहे आप अपने शक्ति-बल से ऐसा अन्याय कर लें, परन्तु जिस दिन परलोक में आप परमपिता के सम्मुख उपस्थित होंगे, उस दिन आपकी यह पाशवी शक्ति कुछ काम न आवेगी और आपको इसका भयानक दण्ड भोगना होगा।

राजा—मुझे अधिक लज्जित न करो इन्दु। मैंने जो किया सो किया। उसका फल जो होगा सो देखा जायगा। इस समय तो मैं प्रेमान्ध बन कर तुम्हारे प्रणय का भिखारी हो रहा हूँ। बस, कह दो कि तुम मेरी और मैं तुम्हारा।

इन्दु—प्रणय कोई रुपया-पैसा नहीं है, जो योंही दे डाला जा सके। वह बार-बार और हर किसी को दिया भी नहीं जा सकता। और असली बात तो यह है कि स्त्रियाँ प्रणय दे ही नहीं सकतीं। उनमें दाता और दान की भिन्न भावना ही नहीं होती। उनका तो आराध्य देव के चरणों में स्वयम् दान हो जाता है और जब दान हो चुकता है तब उन्हें पता लगता है। ऐसा ही दान सात्विक है और यही जीवन-पर्यन्त और मृत्यु के बाद भी रहता है। आप पुरुष हैं, आप इस दान का महत्त्व क्या समझें।

राजा—प्रिये! मैं हारा, तुम जीतीं। मैं जानता हूँ कि तुम बड़ी विदुषी हो। मैं तुमसे बातों में जीत न सकूँगा। मैं अधिक न कह कर यही कहना चाहता हूँ कि मैं तुम्हारे रूप-सरोवर का मीन बन गया हूँ। तुम्हारे बिना मेरा जीवन वृथा है। इसलिए तुम मुझे अपना लो।

इन्दु—आप मेरे रूप के पीछे पागल हुए हैं। क्या आप नहीं जानते कि यह रूप क्षणभङ्गुर है? क्या आपको विदित नहीं कि इस रूप की तितली के पङ्ख थोड़े ही काल में झड़ जाते हैं और फिर वही अस्थि-कङ्कालावशिष्ट जरा-

जीर्ण देह ही रह जाती है। होश सँभालिए महाराज, कामान्ध होना आपको शोभा नहीं देता।

राजा—प्यारी, कामान्ध होने में जो सुख है, वह इस सूखे ज्ञान में कहाँ। यदि संसार में इसी सूखे ज्ञान का प्रचार उत्तम था तो फिर विधाता ने सुन्दर रूप का सञ्चार क्यों किया। ईश्वर ने इन्द्रियाँ दी हैं और उनके उपभोग के पदार्थ बनाए हैं। इन दोनों का तिरस्कार करना सरासर मूर्खता है। क्या लँगोटी लगाने वालों के धर्म को संसार ने कभी माना है?

इन्दु—लँगोटी न लगा कर सांसारिक जीवन में भी परमपद पाया जा सकता है। क्या संसार के सब रूप, संसार के सब रस, संसार की सब सुगन्धियाँ केवल एक ही मनुष्य के लिए हैं? ईश्वर की कृपा से जिसे जितना प्राप्त हो जाय, उतने ही का आसक्तिहीन भाव से भोग करना बुरा नहीं। कामान्धता हर हालत में बुरी है?

राजा—प्रिये! यह ज्ञान उन्हें सिखाओ जो जन्म से ही अकिञ्चन हैं। हम लोग राजा ठहरे। तरह-तरह के भोग्य-पदार्थ भोगना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। प्रिये! मैं अपने इसी अधिकार के बल पर तुम्हें यहाँ ले आने का साहस कर सका हूँ और इसी अधिकार की दुहाई देता हुआ तुमसे भी प्रार्थना करता हूँ कि इन मधुर खाद्य और पेय पदार्थों का सुरस चखो, इन अमूल्य वस्त्राभूषणों से

अपने सर्वाङ्ग सुसज्जित करो, इन विशाल भवनों और उद्यानों में विहार करो और इस राज्य के साथ ही साथ इस शरीर पर भी अपना शासन करो। ज़रा इन मणिमालाओं की ओर तो देखो। ये तुम्हारे उन्नत वक्षस्थल पर किस प्रकार लहराएँगी, तुम्हारे कण्ठ-देश को किस प्रकार शोभा से परिपूर्ण कर देंगी। यदि आज्ञा हो तो मैं इन्हें तुम्हारे गले में डाल दूँ।

यह कहते हुए मालाएँ हाथ में लेकर कर्णसिंह कुछ आगे बढ़े। रोषभरी दृष्टि से उनकी ओर देखती हुई इन्दुमती चार क़दम पीछे हट गई और बोली—आर्य-ललनाओं का यह अपमान! क्या आपने समझा है कि मैं इन मणियों की चमक से अपना धर्म खो दूँगी। क्या आपने आर्य-ललनाओं को बाज़ारू स्त्रियाँ समझ रक्खा है? सावधान महाराज! ऐसा विचार भी किया तो मेरे शाप के भागी बनोगे। ऐसी दस-पाँच मालाएँ क्या हैं, यदि इसी तरह के रत्नों का पहाड़ भी आप मेरे सामने रख दीजिए तो मैं अपने पैरों की ठोकर से उसे छिन्न-भिन्न कर दूँगी। धिक्कार है आपके इस सम्पत्ति-गर्व पर और धिक्कार है आपके इस कुमार्गगामी यौवन पर।

राजा—बस, अब मुझे अधिक न झिपाओ। प्रिये! नरेशों की इच्छाओं के आगे झुक जाना ही तुम सरीखी अबला स्त्रियों का काम है। तुम्हारे बाप के यहाँ से तो मैंने

उठवा ही मँगवाया। अब यहाँ रह कर तुम मेरी इच्छा कदापि भङ्ग न कर सकोगी। यदि सज्जनता के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लो तो तुम्हें भी विशेष सुख होगा। यदि विवश होकर तुम्हें मेरा प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा तो फिर जन्म भर तुम्हें पछतावा ही रहेगा। यह तो निश्चित है कि मेरी बात तुम्हें माननी ही होगी।

इन्दु—जब तक मेरे हृदय पर मेरी आत्मा का अधिकार है और मेरे शरीर पर मेरी इन भुजाओं का अधिकार है, तब तक आपके समान यदि बीस उद्दण्ड युवक आ जायँ, फिर भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते।

राजा—तो तुम क्या कर लोगी ?

इन्दु—वश चला तो आततायी के प्राण ही ले लूँगी। यदि यह न हो सका तो उसके कर-स्पर्श के पूर्व अपने ही प्राण दे दूँगी।

राजा—प्रिये! इस सुखों से भरे हुए संसार को, इस यौवन में इस तरह छोड़ कर चल बसना ठीक नहीं। मैं बलप्रयोग न करूँगा मैं तुम्हें प्राणघात के लिए बाध्य न करूँगा। परन्तु समझ लो, यदि तुम छोड़ भी दी गईं तो भी क्या तुम्हारे पिता अब तुम्हें रख लेंगे। दूसरे राजा तो तुम्हें मेरा उच्छिष्ट समझ कर स्वीकार ही न करना चाहेंगे और स्वयं तुम्हारे पिता भी लोक-लज्जावश तुम्हें अलग कर देने ही में सुख मानेंगे। फिर तो तुम न घर की होगी न

घाट की। भोजन के लिए गली-गली भीख माँगनी होगी और रहने के लिए किसी झाड़ का आश्रय लेना पड़ेगा। तुम्हारा यह कुसुम के समान कोमल शरीर क्या ऐसे ही कष्टों के लिए है ?

इन्दु—मुझे इसकी परवाह नहीं। स्वच्छन्दता का सुख ही निराला होता है। मैं अपने शारीरिक सुखों की रत्तीभर परवाह नहीं करती। जिसकी आत्मा पवित्र है, जिसने अपने सम्मान को अपनी आत्मा की दृष्टि में उज्ज्वल रक्खा है, वह ईश्वरीय दरबार में अवश्य उच्च आसन पाता है। मनुष्य उसे आदर दे चाहे न दे। महाराज ! मैं स्वच्छन्द हूँ, स्वतन्त्र हूँ। ईश्वर मेरा सहायक है। आपकी शक्ति मुझे बाँध कर नहीं रख सकती।

ऐसा कहती हुई आवेश में आकर इन्दुमती बाहर जाने को उद्यत हुई। राजा ने शीघ्र ही मार्ग रोक लिया। इन्दुमती ने इसकी कुछ चिन्ता न कर फिर भी आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। परिस्थिति विकट जान कर राजा झट बाहर हो गए और मुख्य द्वार बाहर से बन्द कर लिया। चोट खाई हुई नागिन अथवा भूखी बाघिन के समान इन्दुमती भीतर ही तड़पती रह गई।

मन्त्री महोदय अब तक बैठे ही थे। राजा उनके समीप आए और बोले—मन्त्री जी ! मैं क्रमशः साम, दाम, दण्ड और भेद के सभी प्रयोग कर चुका, परन्तु वह

किसी भी उपाय से वश में नहीं आ रही है। अब क्या करना चाहिए ?

मन्त्री—महाराज, धैर्य धारण कीजिए। घोड़े को यदि चाल सिखाई जाती है, तो उसे भी समय देना पड़ता है। फिर इन्दुमती के समान अबोध राजकुमारी से तो आप हृदय का सौदा लेना चाहते हैं। वह काम एक ही दिन में कैसे हो जावेगा।

राजा को मन्त्री की यह बात महत्त्वपूर्ण जान पड़ी। वे इसी पर विचार करने लगे। इतने ही में पूर्व दिशा में तमचुर ने अपनी प्रभाती छेड़ दी। "ओह ! यह क्या ? यह तो सबेरा हो गया !" ऐसा कहते हुए राजा ने कहा—"मन्त्री जी ! चलिए अब चलना चाहिए।"

मन्त्री जी तो यह चाहते ही थे। झट तैयार हो गए और पिञ्जर-विमुक्त पक्षी के समान अपने घर की राह ली।

न्ध्या हो चली थी । दिन भर के कठिन परिश्रम के कारण भगवान दिननायक का तेजस्वी मुख-मण्डल रक्त-वर्ण हो गया था। विरह-विधुरा सलज्जा पश्चिमा सुन्दरी की सुनहली साड़ी के बीच श्रम-निवारणार्थ छिप रहने के लिए वे आतुरतापूर्वक अपने अन्तिम पग बढ़ा रहे थे। पक्षीगण भी अपने बेसुध शिशुओं से मिलने के लिए उत्सुक होकर कलरव करते हुए अपने 'भव्य भवनों' की ओर उड़ चले थे। निस्त-ब्धता का साम्राज्य स्थापित हो चला था। परन्तु दक्षिण ओर से चार पथिक दिनान्त होने के पूर्व ही नगर-प्रवेश के लिए लालायित द्रुतगति से भानुपुर की ओर बढ़े चले जाते थे । उनकी वेश-भूषा साधारण थी। देखने में वे व्यापारी से जान पड़ते थे। चारों चिन्ता, खेद तथा विषाद की मूर्ति बने हुए थे। अगले पथिक का क़द ऊँचा और मूँछें लम्बी थीं। वह अपने शेष तीनों साथियों से अधिक

गम्भीर तथा विचारशील जान पड़ता था। पथिकों के पैरों पर जमी हुई धूल उनकी दीर्घ यात्रा की सूचना दे रही थी। गम्भीर पथिक की दाहिनी ओर का युवक अभी नई उमर का ही था। उसने अभी रहस्यपूर्ण जगत् के विचित्र व्यापारों का बहुत अधिक अनुभव नहीं किया था। उसकी शैशव की चपलता अभी तक बनी हुई थी। उसकी चञ्चल दृष्टि उस गम्भीर परिस्थिति में भी एक स्थल पर स्थिर न रह कर चारों ओर घूमती फिरती थी। अपने साथियों की मौन यात्रा उसे तनिक भी न सुहाती थी। परन्तु ऊँचे पथिक की गम्भीर मुद्रा के कारण किसी को कुछ कहने का साहस तथा उत्साह न होता था। चञ्चल पथिक इस गम्भीरता को अधिक सहन न कर सका। अकस्मात् पीछे घूम कर भानुपुर की ओर अपने दाहिने हाथ की उँगली उठाते हुए पूछा—"विक्रम, यह सामने कौन सा नगर है ?" उसके साथी ने आकस्मिक प्रश्न से सकपका कर अपना नत मस्तक ऊपर उठाया। नगर की ओर ध्यानपूर्वक दृष्टि गड़ा कर उसने उत्तर दिया—"भानुपुर। आज की रात यहीं बिताने की तो ठहरी थी। क्यों बहादुरसिंह जी ?"

हमारे पूर्व परिचित गम्भीर पथिक ने सन्तोषपूर्वक कुछ गहरी साँस लेते हुए कहा—हाँ।

देखते ही देखते चारों श्रान्त पथिक नगर के दक्षिण द्वार पर आ पहुँचे। भगवान शङ्कर जी का विशाल मन्दिर

अपना गौरवपूर्ण मस्तक ऊँचा किए नगर के बाहर ही चिन्तित पथिकों का सप्रेम स्वागत कर रहा था। बहादुरसिंह का मौन आदेश पाकर सब लोग मन्दिर के स्वच्छ चबूतरे पर जा बैठे। थकावट के कारण कई पलों तक कोई कुछ न बोल सका। बड़ी देर तक स्तब्ध रहने के उपरान्त चञ्चल नवयुवक ने कहा—"मेघसिंह! हम लोगों को दीयागढ़ राजप्रासाद छोड़े आज चार दिन हो चुके, परन्तु अबोध कुमारी इन्दुमती का हम लोग कुछ भी पता न पा सके। बेचारी राजकुमारी न जाने किन विपत्तियों में जा फँसी होगी।" मेघसिंह ने मेघ के समान गम्भीर स्वर में निराशापूर्वक बहादुरसिंह की ओर ताकते हुए उस चञ्चल युवक से कहा—"नवलसिंह! हम लोगों ने निश्चिन्त रह कर दीयागढ़ के पराक्रमी महाराज की विशाल भुजाओं की छाया में न जाने कितने वर्ष बिता दिए हैं। सुरक्षित रक्खे हुए हथियार भी कुछ दिनों तक उपयोग में न आने पर अपनी तीक्ष्णता खो बैठते हैं। हम लोगों की बुद्धि पर भी इस समय तुषार पड़ गया है। वर्षों से हम लोग सुख की नींद सो रहे हैं। अब महाराज के लिए प्राणों की बलि देने का समय आ गया है।" मेघसिंह की बात बीच ही में काट कर विक्रमसिंह बोल उठे—"परन्तु कठिनाई तो यह है कि इन्दु को ले जाने वाले कौन हैं? वे कुमारी को किस उद्देश्य से चुरा ले गए हैं, अभी इसका ही पता नहीं लग सका।

तो × × ×।" मेघसिंह ने कुछ झल्ला कर कहा—"तो इसकी सूचना देने के लिए क्या आकाश के देवता उतर कर आएँगे। विक्रम, अभी उस दिन तुम अपनी चतुराई की डींग मारते न थकते थे। आज वह सब क्या हुई ?" विक्रम और मेघ दोनों स्वभाव के क्रोधी थे। इनमें परस्पर कभी न बनती थी। साधारण सी बातों में दोनों झगड़ा उठा करते थे। दोनों में अपनी-अपनी चतुराई की प्रतिद्वन्द्विता सदैव बनी रहती थी। अपनी बुद्धिमत्ता पर इस आकस्मिक कटाक्ष को सहन न करके विक्रम ने और अधिक गरजते हुए कहा—"मेघसिंह ! बहुत बढ़-बढ़ कर बातें न करो। मर्म वाक्य कहना मुझे भी बहुत आता है। मोती बगीचे के नीले सन्दूक़ का हाल × × ×।" मेघसिंह ने घबरा कर अपने दाहिने हाथ से विक्रम का मुँह दाब दिया। हाँफते हुए वे बोले—"विक्रम, तुम्हारा कैसा स्वभाव है ? थोड़ी सी बात पर इतना अधिक × × ×।"

बहादुरसिंह अभी तक उदासीन, अन्यमनस्क होकर सब बातें सुन रहे थे। व्यर्थ का बखेड़ा खड़ा होते देख उन्होंने गम्भीर स्वर में बात काटते हुए कुछ आज्ञापूर्वक कहा—"चुप रहो ! तुम लोगों को लज्जा नहीं आती। इस चिन्तनीय अवसर पर तुम लोगों ने फिर अपना वाक्-संग्राम प्रारम्भ किया।" दोनों ने अपनी भूल पर पछता कर सिर झुका लिया। परन्तु स्वभाव-चपल नवलसिंह से

न रहा गया। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक कहा—"परन्तु यह मोती का बगीचा और नीला सन्दूक़ कैसा ?"

मेघसिंह ने दीनतापूर्वक बहादुरसिंह की ओर देखा। बहादुरसिंह को अपनी आज्ञा की अवहेलना असह्य थी। डाटते हुए उन्होंने कहा—तुम्हें इन नीले-पीले बगीचों से कब अवकाश मिलेगा ? यह समय उपन्यासों की कहानियाँ कहने-सुनने का नहीं है। यदि एक मन होकर तुम लोग कुमारी इन्दुमती की खोज का उपाय नहीं कर सकते तो लौट जाओ। मैं अकेला पर्याप्त हूँ।

विक्रमसिंह जहाँ क्रोधी थे, वहाँ अपनी भूल मालूम होने पर उन्हें पश्चात्ताप भी सबसे अधिक होता था। अपने नेता की तिरस्कारपूर्ण फटकार सुन कर उनके नेत्र सजल हो गए। रुँधे हुए कण्ठ से उन्होंने कहा—अधिक लज्जित न करो बहादुर ! हम लोगों की बुद्धि इस समय कुण्ठित हो रही है। कुछ सूझता नहीं। सदा की भाँति तुम्हीं इस समय पथ-प्रदर्शक बन कर हम लोगों को आदेश दो। प्राणों की बलि देकर हम लोग कुमारी की रक्षा करेंगे।

अपनी व्याज-स्तुति से शान्त होकर बहादुरसिंह ने समझाया—देखो, निराश होने से काम न चलेगा। हम लोगों को तत्परतापूर्वक वन, पर्वत तथा उपत्यकाओं तक को छानना पड़ेगा। परन्तु एक साथ रह कर नहीं। अब

हम लोगों को भानुपुर से ही चारों दिशाओं में फैल जाना होगा। इस प्रकार हम सब चौगुना कार्य कर सकेंगे।

कुछ देर तक रुक कर मुसकुराते हुए उन्होंने फिर कहा—हाँ, विक्रम और मेघ को वाक्-संग्राम का अवसर न मिल सकेगा।

मेघसिंह ने झेंपते हुए कहा—मेरा क्या अपराध था बहादुर ?

बहादुरसिंह ने कहा—मैं जानता हूँ मेघसिंह, तुम अपना अपराध कभी स्वीकार न करोगे। परन्तु जाने दो उस बात को। अब समस्या यह है कि हम लोगों के पास पर्याप्त धन नहीं है। अलग-अलग हो जाने पर यह समस्या और भी अधिक जटिल हो जायगी। इसलिए सब से प्रथम धन का प्रबन्ध करना आवश्यक है।

बहादुरसिंह चुप हो गए। सब लोग चिन्ता-मग्न होकर स्तब्ध बैठे हुए थे कि नवलसिंह ने शान्ति भङ्ग करते हुए कहा—तो हम लोग अय्यारी के सहारे कल दिन भर यहीं पर अपने-अपने लिए पर्याप्त सम्बल एकत्र करें। परसों कुमारी × × ×

बहादुरसिंह प्रसन्न होकर बीच ही में बोल उठे—ठीक कहते हो नवलसिंह ! विक्रम और मेघ की चतुराई की परीक्षा भानुपुर से ही आरम्भ हो जानी चाहिए, जिसमें इन्हें फिर झगड़ने का अवसर न रहे।

रात हो चली थी। चारों श्रान्त पथिक अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल स्थल खोज कर विस्तृत चबूतरे पर फैल कर पड़ रहे। दूसरे दिन के कार्यक्रम का चिन्तन करते-करते बहादुरसिंह निद्रा-देवी की गोद में हिलोरें लेने लगे। परन्तु चञ्चल नवल को मोती के बगीचे की बात न भूली थी। वे चुपचाप सरकते हुए विक्रम के पास पहुँचे। विक्रम अभी अर्ध-निद्रित अवस्था ही में थे। उनके कान में मुँह लगा कर नवलसिंह ने कहा—नीले सन्दूक़ की बात न बताओगे?

विक्रमसिंह ने चौंक कर कहा—कौन, नवलसिंह! देखो, दिक़ न करो। जाओ मैं न बताऊँगा, मेघसिंह पागल हो ज़ायगा। मैंने क्रोध में आकर कह दिया था।

नवलसिंह की उत्सुकता और भी बढ़ गई। उन्होंने अनुनयपूर्वक कहा—भैया विक्रम, बता ही दो।

विक्रम ने सौगन्ध खाते हुए कहा—जाओ, नहीं तो मैं बहादुर को जगा दूँगा। बहादुर का नाम सुनते ही वे भाग कर अपनी शय्या पर सो रहे। परन्तु नीले सन्दूक़ का रहस्य जानने की उत्कण्ठा में उन्हें नींद न आई।

प्रातःकाल होते ही नेता का अनुशासन पाकर सब लोग अपनी-अपनी भाग्य-परीक्षा करने के लिए भानुपुर की पतली गलियों में भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर घुस गए। परन्तु बहादुरसिंह निकटवर्ती आम के वृक्षों की झुरमुट में

बैठ कर चिन्तन करने लगे। अकस्मात् कुछ ध्यान आते ही उन्होंने बटुए में से मिश्री की एक डली निकाली। बड़ी देर तक उस पर न जाने कैसी-कैसी रासायनिक क्रियाएँ करते रहे। मिश्री की डली का तेज बढ़ता गया। धीरे-धीरे वह ठीक हीरे की भाँति झलक उठी। साथ ही आनन्द के मारे बहादुर का मुख-मण्डल भी चमक उठा। जौहरी का रूप धारण करके वे मन ही मन अपनी सफलता पर मुस-कुराते हुए भानुपुर के एक बूढ़े जौहरी के निकट जा पहुँचे।

बूढ़े के केश रूई की भाँति श्वेत हो चुके थे। उसकी पीठ की रीढ़ ऊपर को निकल कर पीछे से नटखट लड़के की भाँति उसकी हँसी उड़ाने लगी थी। उसकी आँखें गड्ढों में घुस गई थीं। टिमटिमाते हुए दीपक की भाँति उनकी ज्योति मन्द पड़ गई थी, परन्तु बूढ़े का द्रव्य-लोभ अभी मन्द नहीं हुआ था। बहादुरसिंह ने आशाभरी दृष्टि से बूढ़े की ओर ताकते हुए कहा—बाबा, विपत के मारे इस परदेसी की कुछ सहायता कर सकोगे ?

बूढ़े ने निरादरपूर्वक कहा—ना भाई, मुझे किसी का भरोसा नहीं। रुपया छोड़ कर और सब प्रकार की सहायता मैं कर दूँगा। बोलो, क्या चाहिए ?

बहादुर ने विनयपूर्वक कहा—"परन्तु बाबा; मुझे तो रुपया ही चाहिए। मैं इस समय बड़ी विपत्ति में पड़ गया हूँ। मैं भी तुम्हारी ही तरह जौहरी हूँ बाबा। इधर

देखो, यह × × ×!" कहते हुए बहादुर ने चतुराई से छिपाते हुए हीरा बूढ़े के हाथ पर रख दिया। उसने अपनी लल-चाई आँखें फैलाते हुए एक बार हीरे की ओर देखा, फिर जौहरी के भोले मुख की ओर। चिर-परिचित मैत्री सी प्रकट करते हुए बूढ़े जौहरी ने कहा—"तुम हो ? पहिले क्यों नहीं कहा ? वाह, तुम्हारा तो यह घर ही है। जब जितने रुपयों की आवश्यकता हो, आज्ञा दे सकते हो। इस समय कितना चाहिए ?"

बहादुरसिंह—एक हज़ार अशर्फ़ी, बाबा !

बूढ़े के आनन्द की सीमा न रही। उसकी दृष्टि ३,००० अशर्फ़ियों से कम पर नहीं ठहर रही थी। हीरा लिए वह भीतर घुस गया और दूसरे ही क्षण एक भारी सी थैली उठा लाया। बहादुरसिंह ने रहस्य प्रकट हो जाने के भय से अधिक विलम्ब करना उचित न जान अपनी राह ली। इधर बूढ़ा भी निश्चिन्त हुआ कि अच्छा हुआ, आवश्यकता के कारण इसका ध्यान हीरे के वास्तविक मूल्य पर नहीं गया, अन्यथा कहीं अधिक माँगने लगता। अब यदि किसी के सिखाए में आकर वह फिर से माँगने आए तो धता बता दूँ।

× × ×

जिस समय इधर बहादुरसिंह कृत्रिम हीरे के व्यापार में लगे हुए थे, ठीक उसी समय विक्रमसिंह भानुपुर

के पूर्वीय भाग में एक विचित्र मनोरञ्जक नाटक के सूत्रधार बने हुए थे। मन्दिर से विदा होकर वे पूर्व दिशा की ओर एक सँकरी गली में घुस गए। अकस्मात् कुछ वाद्य-ध्वनि उनके कानों में पड़ी। कौतूहलवश वे उसी ध्वनि का अनुकरण करते हुए अग्रसर हुए। उन्होंने एक विशाल भव्य भवन के द्वार पर अनेक सम्भ्रान्त नागरिकों का जमघट सा लगा देखा। अपूर्व उत्साह, आनन्दोत्सव, मादक वाद्य, मङ्गल कलश तथा आम की बन्दनवार देख कर उन्हें यह अनुमान करते देर न लगी कि यह किसी लक्ष्मीपति की कन्या का विवाहोपचार है। इस सुअवसर को हाथ से जाने देना उचित न समझ कर वे कुछ विचार करते हुए एक एकान्त गली में चले गए। बड़ी देर तक उसी गली में खड़े-खड़े वे न जाने क्या विचार करते रहे। अकस्मात् उनका मुख-कमल प्रसन्नता से खिल उठा। अपने बटुए से कुछ विचित्र प्रकार के लेपन निकाल कर अपने भरे हुए मुख-मण्डल पर वृद्धावस्था के उपयुक्त झुर्रियाँ बनाने लगे। पाठकगण ! विक्रमसिंह के पागलपन में व्यर्थ समय नष्ट करके आइए हम लोग उस सौभाग्यवती कुमारी के मौन आनन्द में हाथ बटाएँ। परन्तु यह क्या ? सेठ दीनदयाल की कन्या चमेली आज खिन्न क्यों है ? वह देखिए, उस एकान्त भवन में विषाद की मूर्ति सी बनी चमेली एक बुढ़िया से कुछ धीमे-धीमे स्वरों में

बात कर रही है। उसके गुलाबी गालों पर आँसू की दो बूँदें मोती की भाँति झलक रही हैं। बुढ़िया ने दिलासा देते हुए कहा—तो रोती क्यों हो, बिन्ना! मेरे रहते हुए तुम्हारी आशा पर तुषार न पड़ने पाएगा। मेरी बिन्ना, मैं तुझे तेरे × × ×

चमेली सिसकती हुई बीच में ही बोली—भला अब तक तू जैसे-तैसे मुझे माधव से मिलने का अवसर दिलाती रही। परन्तु मैं तो कल ही × × ×

अकस्मात् चमेली रुक गई। उसने देखा, एक दूसरी बुढ़िया पश्चिम वाले द्वार से होकर उधर ही आ रही है। सतर्क होकर उसने अपनी निकटवर्तिनी वृद्धा की ओर देखा। इतने ही में यह दूसरी बुढ़िया भी आ पहुँची। सन्देहपूर्ण दृष्टि से चमेली ने बुढ़िया को रोक कर पूछा—अरी तू कौन है? यहाँ बिना पूछे बढ़ी चली आती है।

बुढ़िया ने कान पर हाथ रख कर कहा—अभी नहीं आए।

पहली बुढ़िया झुँझला कर बोली—कौन नहीं आए? और बाई तो पूछती हैं तू कौन है?

बुढ़िया ने फिर कान पर हाथ रख कर खाँसते हुए कहा—"मैंने तो पहले ही कहा था ठण्डक है, न जाओ, पर कोई सुनता है? बाई घरे लूक लगे। मुझसे पान मँगाए हैं, सो जानूँ और क्या जानूँ। चार दिन और जिऊँगी और

क्या ?" इत्यादि बड़बड़ाती हुई दूसरे द्वार से कमरे के बाहर चली गई। चमेली उसकी अनर्गल बातें सुन कर अपनी इस विषादावस्था में भी खिलखिला कर हँस पड़ी और अपनी वृद्धा के प्रति बोली—"एकदम बहरी है। कुछ सुनती ही नहीं। किसी आमन्त्रित सम्बन्धी की दासी होगी।" अपनी टूटी हुई बात का क्रम बाँध कर वह फिर कह चली—"भला, सुसराल में तू मुझे माधव से कैसे मिलाएगी ? मैं तो कल ही दूसरे की हो जाऊँगी। हाय ! किस निगोड़े के साथ मेरे बाप ने मेरा भाग्य बाँध दिया है।"

बुढ़िया सहानुभूति प्रकट करती हुई बोली—ठीक कहती हो बेटी ! पुरुष बड़े निठुर होते हैं। धन के लोभ में वे बेचारी स्त्रियों की पसन्द की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। परन्तु मैं तुम्हारे बाप की एक न चलने दूँगी। मैं वह दाँव लगाऊँगी कि तू सुसराल पहुँच के दूसरे ही दिन अपने प्रियतम के गले लगेगी। तू भरोसा रखियो। पर तुझे तो मैं आज एक भला सँदेसा सुनाने आई थी। माधव वहीं दक्खिन वाली गुलाब की झाड़ी के नीचे बैठा तेरी बाट जोह रहा है। एक बार तू उससे मिल तो आ। अपनी याद के लिए उसे तू यह हीरे वाली अँगूठी देती आइयो।

चमेली प्रियतम-मिलन की आशा से प्रफुल्लित हो उठी। जल्दी-जल्दी समस्त शृङ्गारों से सुसज्जित होकर वह वृद्धा के साथ चलने को उद्यत हो गई। इधर बहरी बुढ़िया दूसरे

कमरे में जाकर पान लगाने लगी। परन्तु उसके कान उधर ही की ओर खड़े थे। उनकी बातें समाप्त होते न होते वह दौड़ कर दक्षिण वाले बग़ीचे की ओर चली गई। चमेली बन-ठन कर वृद्धा के साथ माधव से मिलने के लिए उसी बग़ीचे की ओर अग्रसर हुई। गुलाब की घनी झाड़ियों के नीचे उसने देखा कि उसका माधव तृष्णा-भरी निगाहों से प्रासाद की ओर ताक रहा है। चमेली, गुलाब की कटीली झाड़ी में घुस कर सतृष्ण माधव के आगे जा खड़ी हुई। पर माधव ने आलिङ्गन के लिए बाँहें न बढ़ाईं। उसने रुँधे कण्ठ से कहा—"चमेली, अब तो तुम दूसरे की हो गई। अब मेरा तुम पर क्या अधिकार?" चमेली ने तिरस्कार की चोट खाकर सिसकते हुए कहा—"नाथ! मैं तो इस हृदय को तुम्हारे ही चरणों पर न्योछावर कर चुकी हूँ। क्या तुम मेरा उद्धार न करोगे?" माधव ने गद्गद कण्ठ से कहा—"प्यारी चमेली! इस उपवन में तो मेरा तुमसे यह अन्तिम मिलन है। परन्तु तुम्हें शीघ्र ही इन भुजाओं के बल से अपने अधिकार में लूँगा और तभी अपने को तुम्हारे आलिङ्गन का अधिकारी समझूँगा। हृदय चाहता है कि एक बार तुम्हारे कोमल आलिङ्गन का स्वर्गीय सुख लूटूँ। परन्तु नहीं, अब तो तुम्हें अपनी बना कर ही तुम्हारी अधर-मदिरा का पान करूँगा। ऐसी मैंने प्रतिज्ञा तुम्हारे विवाहोत्सव के पूर्व ही कर ली थी।"

"××× उसने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—चमेली! अब तो तुम दूसरे की हो गईं। अब तुम पर मेरा क्या अधिकार?"—[पृष्ठ ७६]

चमेली ने सतृष्ण नेत्रों से माधव की ओर देखा, फिर सिर झुका कर बोली—"अच्छा कम से कम मेरी स्मृति-स्वरूप यह अँगूठी तो आप रखिएगा !" कहती हुई उसने अपने दाहिने हाथ से हीरे की अँगूठी निकाल कर माधव की ओर बढ़ा दी। माधव ने सहर्ष अँगूठी ले ली। उधर प्रासाद की ओर से चमेली की बुढ़िया दौड़ी हुई आई और हाँफती हुई बोली—"जल्दी चलो बिन्ना ! राई-नोन के लिए तुम्हारी खोज होने ही वाली है।" चमेली सतृष्ण तथा सजल नयनों से माधव की ओर ताकती हुई, घर की ओर अग्रसर हुई। इधर माधव बहरी बुढ़िया का रूप धारण करके आनन्दोल्लास से भरे बगीचे के बाहर हुए। चतुर पाठकों को यह समझते देर न लगेगी कि बहरी बुढ़िया और कोई नहीं, हमारे चिर-परिचित अय्यार विक्रमसिंह हैं। चमेली की बातें सुन, बगीचे में आ, वे स्वयं माधव बन बैठे थे। और बेचारा माधव उनकी कृपा से अब तक बगीचे की पूरब वाली माधवी लता के नीचे अचेत पड़ा था।

विक्रमसिंह ने बहुमूल्य अँगूठी पाकर उसी पूर्व परि-चित शिवालय की राह ली।

× × ×

पाठक नवलसिंह की चञ्चलता को भूले न होंगे। उनका मस्तिष्क उनके स्थूल अवयवों से भी अधिक चपल

था। किसी बात की धुन सवार हो जाती थी, तो उसी की उधेड़-बुन में उनका मन घण्टों फँसा रहता था। मन्दिर पर विक्रम के नीला सन्दूक़ कहते ही मेघसिंह क्यों घबरा उठे? यह उसकी समझ में न आता था। यह कैसा नीला सन्दूक़ है? उसमें क्या है? उसके नाम से मेघसिंह क्यों भयभीत हो गए? इत्यादि बातों की कल्पना करते-करते उनका समस्त दिवस व्यतीत हो गया। सन्ध्या के समय उन्हें बहादुरसिंह की बातों का स्मरण हो आया। अभी तक वे अपनी ही धुन में मस्त भानुपुर की गलियों में घूमते रहे थे, परन्तु अब अकस्मात् धन-सञ्चय की सुध आते ही उन्हें कुछ भय प्रतीत होने लगा। बहादुरसिंह क्या कहेंगे? अब रात्रि के समय मनोरथ-पूर्ति का क्या उपाय किया जा सकता है? उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा कि आज अवश्य ही सब लोगों के सामने लज्जित होना पड़ेगा। तब क्या करूँ? इत्यादि चिन्ताएँ करते-करते भानुपुर की तङ्ग गलियों में उनका मस्तिष्क घूमने लगा। असह्य मानसिक वेदना से व्याकुल होकर वे नगर के बाहर उत्तर ओर वाले पक्के तालाब की ओर बढ़े चले गए। कुछ देर तक उन्माद-ग्रस्त की भाँति वे इधर-उधर भटकते रहे। अकस्मात् कुछ दूर पर उन्हें बगीचों के बीच कुछ आग सी जलती दिखाई दी। मन की तरङ्ग में आकर कौतूहलवश अग्नि का रहस्य जानने के

लिए वे उसी ओर अग्रसर हुए। कुछ निकट जाकर उन्होंने देखा कि एक जटाधारी संन्यासी धूनी रमाए कुशासन पर आसीन है। उनका मन किसी काम में न लगता था। स्वभाव-चापल्य के कारण उनकी इच्छा हुई कि चल कर संन्यासी से ही कुछ छेड़-छाड़ करूँ। इस विचार से उन्हें कुछ आनन्द तथा सन्तोष हुआ। वे उस ओर बढ़ने ही को थे कि उस निर्जन रजनी में उन्हें किसी रमणी के आभूषणों की ध्वनि सुनाई दी। कौतूहलवश वे धूनी के कुछ और निकट जाकर एक सघन वृक्ष की ओट में बैठ गए। कुछ ही क्षणों में उन्होंने देखा, विविध आभूषणों से सुसज्जित एक रमणी हाथ में एक सुन्दर थाल सजाए हुए मन्द गति से चल कर संन्यासी के निकट जा खड़ी हुई। नवलसिंह परिवर्द्धित कौतूहल के साथ समस्त ज्ञानेन्द्रियों को उसी ओर एकाग्र कर अपलक बैठे रहे। सुन्दरी ने थाल संन्यासी के हाथ में दिया। संन्यासी ने ललचाई हुई आँखों से रमणी की ओर देखते हुए उसका दाहिना हाथ खींच कर अपनी गोद में बिठा लिया। थाल में रक्खे हुए सुस्वादु द्रव्यों का जलपान करने के उपरान्त प्रेमालाप करते हुए संन्यासी ने कोई चमकीली वस्तु आसन के नीचे से निकाल कर सुन्दरी की ओर बढ़ाई, परन्तु तिरस्कारपूर्वक दाहिने हाथ से हटाते हुए सुन्दरी ने तीव्र स्वर में कहा—"जाने दीजिए, मुझे आपकी यह भेंट स्वीकृत नहीं।

जब तक आप मुझे सोना बनाने का रहस्य न बताएँगे, तब तक मैं इस सोने को कदापि न लूँगी। आप प्रतिदिन मुझे मिथ्या प्रेम का भुलावा देते रहते हैं। छोड़िए, मैं जाती हूँ।" कह कर वह बाला संन्यासी से अपना पिण्ड छुड़ा कर अलग जा खड़ी हुई। संन्यासी ने कुछ स्तम्भित होकर विनयपूर्ण स्वर में कहा—"प्रिये! तुम्हारे इस सौन्दर्य पर मेरे प्राण न्योछावर हैं। मैं कल अवश्य ही तुम्हें सुवर्ण का रहस्य बता दूँगा। आज मुझे क्षमा करते हुए मेरी प्रणय-भिक्षा × × ×"

सुन्दरी थाली लिए बिना ही तमक कर कुछ बड़बड़ाती हुई अपने पूर्वपथ पर लौट चली। संन्यासी इस आकस्मिक घटना से स्तम्भित होकर उसे रोकने का साहस न कर सका। नवलसिंह का चित्त सुवर्ण का नाम सुनते ही ललचा उठा। वे तीव्र गति से चल कर अन्धकार में अन्तर्धान हो गए।

रमणी रोष के साथ पग बढ़ाए उस निविड़ अन्धकार को पार करती हुई भानुपुर की ओर अग्रसर हो रही थी, सहसा उसे किसी वृद्धा के कराहने का शब्द सुन पड़ा—नारी-सुलभ करुणा के कारण वह उस ध्वनि के सहारे चल कर दुखिया बुढ़िया के पास जा पहुँची। बुढ़िया ने गिड़गिड़ा कर कहा—"बेटी, मेरे पाँव में बड़ी चोट आ गई है, अँधेरे में गिर पड़ी थी। मेरे पास दवाई है, पर उसे लगावे कौन? तू जा उस निंबोले पर पटक कर इस गोली

को फोड़ ला। भीतर लेप निकलेगा। उसे मेरी चोट पर चुपड़ दे।" रमणी ने दिलासा देते हुए उस बुढ़िया के हाथ से गोली ले ली। उसे पटक कर तोड़ते ही उसमें से ऐसी दुर्गन्धि निकली कि वह क्षण भर भी अपने को न सँभाल सकी। माथा थाम कर बैठ गई, अचेत हो गई। बुढ़िया उचक कर उठ बैठी। उसकी चोट न जाने कहाँ चली गई। देखते ही देखते वह स्वयं वृद्धा से षोडशी बन बैठी। कहना न होगा कि बुढ़िया नवलसिंह के अतिरिक्त और कोई न था। नवलसिंह नारी-सुलभ चञ्चल चाल के साथ संन्यासी की धूनी के निकट पहुँचे। कुछ उदासीन भाव के साथ मानो उन्होंने बगीचे के वृक्षों को सम्बोधित करते हुए कहा—"थाली भूल गई थी, लिए जाती हूँ।" संन्यासी इस बार समस्त साहस बटोर, अपनी प्रेयसी का मार्ग रोक कर खड़ा हो गया। उसने कहा—"प्रिये! यदि तुम्हारे रोष का अन्त न हुआ, तो निश्चय ही मेरे ज़ीवन का अन्त हो जायगा!" सुन्दरी ने झिड़क कर कहा—"चलो, हटो, दूर रहना, मैं अब तुम्हारे मुख से सुवर्ण-रहस्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुना चाहती। तुम्हारे प्रेम का आडम्बर मैंने बहुत देख लिया। आज मैं उसका अन्त कर देना चाहती हूँ, इस पार या उस पार।" संन्यासी ने देखा, अब किसी प्रकार बचाव नहीं है। उसने कहा—"अच्छा एक बात तुम मुझे पहले बता दो।" नवलसिंह ने घबराते हुए कहा—"क्या?" संन्यासी

ने कहा—"पहले वचन दो।" नवलसिंह ने देखा, अब उल्टे फँसने के लिए फन्दा पड़ गया है। न जाने यह दुष्ट कौन सी बात पूछ बैठे। फिर भी उन्होंने पूरे धैर्य के साथ कहा—"अच्छा बताऊँगी।" संन्यासी ने कहा—"वही बात, जो मैं तुमसे पहले कई बार पूछ चुका हूँ और जिसका भय दिखा कर तुम मुझसे सुवर्ण-रहस्य पूछना चाहती हो।" नवलसिंह बड़े चक्कर में पड़े। कौन सी बात? वे कुछ भी न जानते थे। उन्होंने देखा, अब भेद खुलने में कुछ भी क़सर नहीं रह गई। फिर भी जी कड़ा करके उन्होंने झिड़क कर कहा—"मैं इस समय रोष के मारे आपके इशारे समझने को तैयार नहीं हूँ, आप स्पष्ट वाक्य बना कर अपना प्रश्न कहिए।" उनका हृदय ज़ोर से धड़कने लगा, संन्यासी क्या पूछेगा?

संन्यासी ने कहा—"तो मुझसे बिना कहलाए न मानोगी, तुम्हें कष्ट देने में आनन्द मिलता है, तो पूछता हूँ नीले सन्दूक़ का रहस्य तुमसे किसने बताया।" नवलसिंह सहम उठे। फिर वही नीला सन्दूक़। यह क्या गोरखधन्धा है। क्या संन्यासी मुझे पहचान गया है अथवा इसका भी नीले सन्दूक़ से कुछ सम्बन्ध है? और उसी का भय दिखा कर सुन्दरी सुवर्ण-रहस्य जानना चाहती है। क्या उत्तर दें। उनकी घबराहट का कुछ अनुमान पाठक स्वयं लगा सकते हैं। नवलसिंह ने विचार किया—इस नीले सन्दूक़ का कुछ न कुछ सम्बन्ध मेघसिंह से भी अवश्य

है। वे इसके रहस्य को निस्सन्देह जानते हैं। साहस बटोर कर उन्होंने दृढ़ स्वर में कहा—"मेघसिंह से।" संन्यासी ने सकपका कर कहा—"कौन मेघसिंह, अय्यार? दीयागढ़ वाले मेघसिंह? कौन? कहाँ?" नवलसिंह ने देखा, निशाना ठीक बैठा है। उन्होंने जोर देकर कहा—"हाँ-हाँ वही, पर इससे अधिक मैं कुछ न बताऊँगी।" नवलसिंह ने यह कह-कर मानो अपने रहस्योद्घाटन का द्वार बन्द कर लिया।

संन्यासी ने अनेक प्रश्न करने चाहे, परन्तु नवलसिंह ने विजय-गर्व के साथ उसके प्रश्नों को ठुकराते हुए कहा—"बस मुझे देर होती है, आपने मुझसे मेरा रहस्य पूछ लिया। अब यदि सुवर्ण-रहस्य जाने विना मुझे लौटना पड़ा, तो नीले सन्दूक़ की कथा को कल ही जनसाधारण के मुँह से सुनने का तुम्हें अवसर मिलेगा। मैं अधिक प्रतीक्षा भी न कर सकूँगी।"

संन्यासी ने हार कर सुवर्ण सहित एक छोटी सी हाथ की लिखी हुई पुस्तक सुन्दरी के हाथ में दी। पुस्तक पर लिखा था "सुवर्ण-रहस्य"। नवलसिंह दोनों वस्तुएँ हाथ में ले प्रसन्न मन से चिन्तित संन्यासी को वहीं छोड़, दूसरे दिन मिलने का वचन देकर चल दिए। रास्ते भर में चन्द्रिका के सहारे वे पुस्तक उलट-पुलट कर देख गए। उन्होंने देखा, सुवर्ण-रचना उतनी सहज नहीं जितनी वे

समझते थे। तो भी सुवर्ण-रहस्य पुस्तक उनके लिए कम महत्त्वपूर्ण न थी। इसके अतिरिक्त संन्यासी की दी हुई "सोने की ईंट" उनके मार्ग-व्यय के लिए पर्याप्त थी। यह सब तो ठीक; परन्तु यह नीला सन्दूक़ कैसा? नीला सन्दूक़ उनके कौतूहल को और भी बढ़ाने लगा। इस संन्यासी, मेघसिंह तथा सुन्दरी में परस्पर कैसा सम्बन्ध है? मेघसिंह के आगे क्या आज की समस्त घटना कहूँ। नीले सन्दूक़ और संन्यासी की चर्चा सुन कर वह अवश्य ही चौंक पड़ेगा। अच्छा, नीले सन्दूक़ की बात अभी छिपा लूँगा, परन्तु संन्यासी की चर्चा तो अवश्य ही करनी होगी। देखूँ "स्वर्ण-रहस्यज्ञ" संन्यासी का नाम सुन कर मेघसिंह क्या कहता है? मेघसिंह अवश्य ही उस संन्यासी को पहचानता है। इत्यादि बातों पर विचार करते हुए वे मन्दिर के निकट पहुँचे। उन्होंने देखा कि सब लोग उनसे पूर्व ही आकर अपनी-अपनी बीती बातें परस्पर सुनाते हुए उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिस समय नवलसिंह मन्दिर पर पहुँचे, उस समय मेघसिंह बढ़-बढ़ कर अपनी चतुराई का कच्चा चिट्ठा अभिमानपूर्वक सुना रहे थे। नवलसिंह को देख कर क्षण भर के लिए सब लोगों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ।

"बड़ी देर लगा दी नवल!"—बहादुर ने कहा।

"कुछ देर अवश्य हो गई।"—नवल ने उत्तर दिया।

"विजय या पराजय ?"—बहादुर ने पूछा।

"महाराज दीयागढ़ के सेवकों को पराजय कहाँ"—नवल ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया। मेघसिंह की ओर सब लोग फिर पूर्ववत् दत्तचित्त हुए। विक्रम ने कहाँ—"हाँ, फिर ?" मेघसिंह ने अपनी कथा का क्रम टटोलते हुए कहा—"जब मैंने देखा× × ×"

नवलसिंह ने बीच में टोंक दिया—भाई शुरू से कहो न, जिससे हम भी सुन सकें ?

मेघसिंह ने झुँझला कर कहा—अभी तो शुरू ही किया है। फिर कह चले—"जब मैंने देखा कि बहुत परिश्रम करने पर भी, सफलता की आशा नहीं, तो कुछ चिन्तित सा मुख्य बाज़ार की ओर चला गया। भानुपुर का बाज़ार तो तुमने भी देखा ही है। बाज़ार का कुछ रङ्ग-ढङ्ग देखने की इच्छा से मैं दलाल बन गया। दोपहर के लगभग खबर फैली कि भानुपुर के लालू जौहरी के यहाँ कोई अपूर्व हीरा बिकाऊ है। मैंने जाकर देखा, बूढ़े जौहरी के पास सचमुच एक अत्यन्त अमूल्य जगमगाता हीरा एक छोटी सी लाल डिबिया में बन्द रक्खा है।" बूढ़े जौहरी के हीरे की बात सुन कर बहादुरसिंह चौंक पड़े। अकस्मात् उनके मुख से निकल पड़ा—"बूढ़ा जौहरी!" मेघसिंह ने ज़ोर देकर कहा—"हाँ-हाँ, एकदम बूढ़ा। वह शायद इस नगर का सबसे बूढ़ा आदमी है। उसे यहाँ के लोग बूढ़ा जौहरी

समझते थे। तो भी सुवर्ण-रहस्य पुस्तक उनके लिए कम महत्त्वपूर्ण न थी। इसके अतिरिक्त संन्यासी की दी हुई "सोने की ईंट" उनके मार्ग-व्यय के लिए पर्याप्त थी। यह सब तो ठीक; परन्तु यह नीला सन्दूक़ कैसा? नीला सन्दूक़ उनके कौतूहल को और भी बढ़ाने लगा। इस संन्यासी, मेघसिंह तथा सुन्दरी में परस्पर कैसा सम्बन्ध है? मेघसिंह के आगे क्या आज की समस्त घटना कहूँ। नीले सन्दूक़ और संन्यासी की चर्चा सुन कर वह अवश्य ही चौंक पड़ेगा। अच्छा, नीले सन्दूक़ की बात अभी छिपा लूँगा, परन्तु संन्यासी की चर्चा तो अवश्य ही करनी होगी। देखूँ "स्वर्ण-रहस्यज्ञ" संन्यासी का नाम सुन कर मेघसिंह क्या कहता है? मेघसिंह अवश्य ही उस संन्यासी को पहचानता है। इत्यादि बातों पर विचार करते हुए वे मन्दिर के निकट पहुँचे। उन्होंने देखा कि सब लोग उनसे पूर्व ही आकर अपनी-अपनी बीती बातें परस्पर सुनाते हुए उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिस समय नवलसिंह मन्दिर पर पहुँचे, उस समय मेघसिंह बढ़-बढ़ कर अपनी चतुराई का कच्चा चिट्ठा अभिमानपूर्वक सुना रहे थे। नवलसिंह को देख कर क्षण भर के लिए सब लोगों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ।

"बड़ी देर लगा दी नवल!"—बहादुर ने कहा।

"कुछ देर अवश्य हो गई।"—नवल ने उत्तर दिया।

"विजय या पराजय ?"—बहादुर ने पूछा।

"महाराज दीयागढ़ के सेवकों को पराजय कहाँ"—नवल ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया। मेघसिंह की ओर सब लोग फिर पूर्ववत् दत्तचित्त हुए। विक्रम ने कहाँ—"हाँ, फिर ?" मेघसिंह ने अपनी कथा का क्रम टटोलते हुए कहा—"जब मैंने देखा × × ×"

नवलसिंह ने बीच में टोंक दिया—भाई शुरू से कहो न, जिससे हम भी सुन सकें ?

मेघसिंह ने झुँझला कर कहा—अभी तो शुरू ही किया है। फिर कह चले—"जब मैंने देखा कि बहुत परिश्रम करने पर भी, सफलता की आशा नहीं, तो कुछ चिन्तित सा मुख्य बाज़ार की ओर चला गया। भानुपुर का बाज़ार तो तुमने भी देखा ही है। बाज़ार का कुछ रङ्ग-ढङ्ग देखने की इच्छा से मैं दलाल बन गया। दोपहर के लगभग खबर फैली कि भानुपुर के लालू जौहरी के यहाँ कोई अपूर्व हीरा बिकाऊ है। मैंने जाकर देखा, बूढ़े जौहरी के पास सचमुच एक अत्यन्त अमूल्य जगमगाता हीरा एक छोटी सी लाल डिबिया में बन्द रक्खा है।" बूढ़े जौहरी के हीरे की बात सुन कर बहादुरसिंह चौंक पड़े। अकस्मात् उनके मुख से निकल पड़ा—"बूढ़ा जौहरी !" मेघसिंह ने ज़ोर देकर कहा—"हाँ-हाँ, एकदम बूढ़ा। वह शायद इस नगर का सबसे बूढ़ा आदमी है। उसे यहाँ के लोग बूढ़ा जौहरी

ही कहते हैं। क्या तुम उसे जानते हो ?" बहादुरसिंह ने उत्सुकता के साथ कहा—"अच्छा-अच्छा तुम कहे जाओ। फिर ?"

मेघसिंह कहने लगे—"हीरा देख कर मैंने जौहरी से उसका मूल्य पूछा। बूढ़े ने रहस्यभरी चितवन के साथ अपना श्वेत मस्तक झुकाते हुए तीन उँगलियाँ दिखाईं। मैंने पूछा—'कुछ कम ?' मुँह बनाते हुए बूढ़े ने कहा—'एक कौड़ी नहीं।' हीरा सचमुच अत्यन्त सुन्दर था। पर मेरे पास तीन हजार अशर्फियाँ कहाँ थीं ? मैं उस अप्राप्य वस्तु के विषय में अधिक चिन्तन करना उचित न समझ कर बाजार के दूसरे भाग की ओर चल पड़ा, परन्तु जगह-जगह मैंने व्यापारियों को उसी हीरे की चर्चा करते देखा। चौक के पूरब कोने वाले मन्दिर के पास ३-४ दलाल एक सेठ जी को घेरे खड़े हुए थे। मैं कौतूहलवश और बेकारी के कारण पास जा खड़ा हुआ। सेठ जी ने विचारते हुए कहा—'अच्छा चलो, मैं जरा हीरा देख तो लूँ कैसा है ?' एक चतुर दलाल बोल उठा—'सेठ जी, देखा-सुना है। आप सरीखे सेठ पहली लड़की के ब्याह में दामाद को ऐसा नायाब हीरा न भेंट करेंगे, तो हम लोग कहाँ रहेंगे ?" लड़की के ब्याह की बात ने विक्रमसिंह को चौंका दिया, वे बीच में बोल उठे—"कौन से सेठ थे ?" मेघसिंह ने रुक कर कहा—"मुझे पीछे मालूम हुआ, वे

भानुपुर के नामी सेठ दीनदयाल थे।" "सेठ दीनदयाल !" विक्रम ने आश्चर्य के साथ दुहराया। मेघसिंह ने कहा— "हाँ-हाँ, वही।" विक्रम परिवर्द्धित कौतूहल के साथ और आगे सरक कर बैठ गए। बहादुर और विक्रम दोनों कान लगाए बैठे थे। मेघसिंह उनकी उत्सुकता की ओर ध्यान देते हुए कह चले—"हाँ, तो दलालों का आग्रह सुन कर सेठ दीनदयाल ने सिर हिलाते हुए कहा—भई फिर भी देख तो लेना ही चाहिए। इधर तब तक मेरा मुनीम भी लौट आएगा। यदि हीरा मुझे पसन्द आ जायगा; तो मैं मुनीम को रुपया समेत भेज दूँगा। वह लेता जायगा। दूसरे दलाल ने पूछा—बद्री (मुनीम) कहाँ गया है ?

सेठ—कहीं नहीं, चमेली का जी अच्छा न था—पण्डित दुर्गादीन के यहाँ दवा लेने गया है, आता ही होगा। तब तक मैं तुम्हारा हीरा भी देख लूँगा। दलाल सेठ जी को लेकर बूढ़े जौहरी की ओर चले।

इधर मुझे कुछ राह सूझ गई। लोगों से पूछता हुआ मैं झटपट वैद्य दुर्गादीन के घर पहुँचा। पूछने पर एक छोटे लड़के ने बताया; वैद्य जी रोगी देखने गए हैं। आप बग़ल वाले कमरे में बैठिए। मैंने पण्डित जी के कमरे में प्रवेश करते ही देखा, एक और बूढ़ा आदमी शायद पण्डित जी की प्रतीक्षा में बैठा था। उसकी वेष-भूषा से मुझे यह अनुमान करते देर न लगी कि वह मुनीम ही है; फिर भी

निश्चय करने के लिए पास की कुर्सी सरका कर बैठते हुए मैंने कहा—मुनीम जी, आज किसी की तबियत खराब है क्या ?

मुनीम ने मेरी ओर अपरिचित दृष्टि से देखते हुए कहा—जी हाँ, सेठ जी की बड़ी लड़की का जी अच्छा नहीं है।

विश्वास जमाने के लिए मैंने पूछा—"वही जिसका ब्याह है ?" मुनीम ने सिर हिला कर कहा—"जी हाँ।" पान की डिबिया मुनीम जी की ओर बढ़ाते हुए मैंने कहा—"मेरी भी लड़की आज तीन दिन से बीमार है। लीजिए, तब तक पान ही खाइए।" मुनीम ने कृतज्ञतापूर्वक पान ले लिया। पान गले के नीचे उतरते न उतरते मुनीम अचेत हो गया। उसकी जेब टटोली तो एक बड़ा चाभियों का गुच्छा पड़ा था। मेरे आनन्द की सीमा न रही। गुच्छा अधिकार में किया और मुनीम को समेट कर पण्डित जी की दवा वाली आलमारी के पीछे डाल दिया। दूसरे ही क्षण मुनीम बन बैठा। विद्युद्वेग के साथ सब कार्य समाप्त होते ही वैद्य जी ने भी कमरे में पदार्पण किया। मैंने प्रणाम करते हुए सेठ जी का सम्वाद कहा। सेठ जी का नाम सुनते ही पण्डित जी उलटे पाँव मेरे साथ चलने को तैयार हो गए। मैं बड़े असमञ्जस में पड़ा। सेठ जी का घर मैं जानता ही न था, परन्तु बड़ी चतुराई से बात बना ही ली। मैंने कहा—"पण्डित जी, आप घर की ओर चलिए, मुझे सेठ जी ने बाज़ार

का कुछ और काम सौंपा है। मैं चौक जाऊँ।" पण्डित जी ने कहा—"हाँ ठीक है। मैं चलता हूँ, लड़की का काज ठहरा। तुम अपना काम करो।" मैं प्रणाम करके चौक की ओर चल दिया। अपनी सफलता पर मैं फूला न समाता था। चौक पहुँचते ही सेठ जी मिले। दलाल अब तक उन्हें घेरे हुए थे। मुझे देखते ही सेठ जी ने पुकारा—"बद्री!" मैंने कहा—"सेठ जी!"

"वैद्य जी मिले?"—सेठ जी ने पूछा।

मैंने उत्तर दिया—घर की ओर भेज दिया है।

सन्तोषपूर्वक सेठ जी ने कहा—"अच्छा ठीक किया, तुम ज़रा बूढ़े जौहरी के यहाँ चले जाओ। मैं एक हीरा लेता आया हूँ, दाम भी ठीक कर आया हूँ; तुम दाम चुकाते आओ। बूढ़ा जल्दी मचा रहा है। २½ हज़ार मोहर देने हैं।" दलालों को कुछ कह कर सेठ जी ने विदा किया। मैं सेठ जी के साथ ही साथ उनके घर पहुँचा। परन्तु अब बड़े असमञ्जस में पड़ा। खज़ाने वाली कोठरी कौन सी है? यह तो मैं जानता ही न था। अकस्मात् मेरी दृष्टि बैठक की दाहिनी ओर वाले बन्द दरवाज़े पर पड़ी। उसकी चौखट पर गेरू से "श्री" और "बीसायन्त्र" लिखा देखा। मुझे अनुमान करते देर न लगी। झटपट कोठरी का द्वार खोल कर कोठरी के भीतर गया। लोहे की बड़ी भारी तिजोरी रक्खी थी। मैंने २½ हज़ार अशर्फ़ियाँ गिन कर निकाल

लीं। साथ ही सेठ जी का खाता निकाल कर मैंने यथास्थान हिसाब दिखाने के लिए लिख दिया—"ढाई हज़ार मोहर बट्टे खाते।" मोहरों की थैली समेट, सब ज्यों का त्यों बन्द करके मैंने बाहर दम लिया। बूढ़ा जौहरी अभी तक मोहरों की बाट जोह रहा होगा और सोने की मोहरें तो ये गिन लीजिए।" विक्रमसिंह अब तक कौतूहल के साथ सब कथा सुन रहे थे। समाप्त होते ही उन्होंने कहा—"आश्चर्य! जिस समय तुम मुनीम बन कर सेठ जी का जमाखर्च बराबर कह रहे थे, ठीक उसी समय मैं उनके बग़ीचे में उनकी कन्या चमेली से प्रेमालाप कर रहा था।"

नवलसिंह ने आश्चर्य से कहा—"प्रेमालाप!" विक्रमसिंह ने अपनी सब कहानी कह डाली। उनकी कथा समाप्त होते ही बहादुरसिंह ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"इसका अर्थ यह है कि सेठ जी ने दामाद को नक़ली ही स्त्री और नक़ली ही हीरा दिया।"

नवलसिंह बोल उठे—यह कैसे?

बहादुरसिंह ने कहा—चमेली माधव के प्रेम में फँसी है, अतएव अपने पति की तो वह नक़ली ही स्त्री है।

विक्रम ने कौतूहल के साथ कहा—और हीरा?

बहादुरसिंह ने कहा—हीरा तो सरासर नक़ली है। वह तो मेरा ही बनाया हुआ है। बहादुरसिंह ने आदि से अन्त तक हीरे की कहानी कह डाली।

नवलसिंह ने कहा—आश्चर्य है! आपने तो बड़े-बड़े जौहरियों की आँखों में धूल झोंक दी!

बहादुर—अय्यारी तो इसी का नाम है नवल! सात दिन तक चतुर से चतुर जौहरी भी पता न पा सकेगा। परन्तु आठवें दिन सेठ जी के दामाद को निराश हो जाना पड़ेगा। आठवें दिन वह दूध में डालने लायक़ मिश्री की डली रह जायगी।

अब नवलसिंह की बारी आई। उन्होंने सावधानी के साथ "नीले सन्दूक़" तथा "सुवर्ण-रहस्य" का प्रसङ्ग छिपाते हुए शेष समस्त कथा कह डाली! उन्होंने कहा—मैंने बहुत प्रयत्न किया, पर संन्यासी ने सुवर्ण-रचना का रहस्य न बताया। हार कर मैं "सोने की ईंट" लेकर चला आया।

"सुवर्णकार संन्यासी" का नाम सुन कर मेघसिंह के आश्चर्य की सीमा न रही। परन्तु भेद प्रकट हो जाने के भय से उन्होंने इस सम्बन्ध में मौन धारण करना ही उचित समझा। आनन्दालाप के उपरान्त बहादुरसिंह ने कहा—अब अधिक विलम्ब करना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। हमें अभी भानुपुर छोड़ देना चाहिए। सम्भव है, हीरे का रहस्य प्रकट होते ही हम लोगों पर कुछ आपत्ति आ पड़े।

कुछ गुप्त मन्त्रणा करने के उपरान्त चारों अय्यार उस निर्जन रजनी में ही भिन्न दिशाओं की ओर चल पड़े।

———
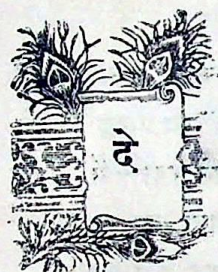
व-दुर्लभ विलास-सामग्री के बीच रहते हुए भी मील्गढ़-नरेश महाराज चन्द्र-सिंह का हृदय अशान्त रहता था। उन्हें बाल्यकाल से ही कर्त्तव्यनिष्ठा, न्यायप्रियता, धर्म-परायणता, धैर्य आदि राजोचित गुणों की शिक्षा दी गई थी, परन्तु केलो-तटवर्त्तिनी वासन्ती सन्ध्या ने उनकी दिनचर्या तथा स्वभाव में आश्चर्यजनक हेर-फेर कर दिया। उस दिन से उन्हें संसार नीरस, शुष्क प्रतीत होने लगा। उनके वैभव-सम्पन्न राजप्रासाद में नित्य नूतन सुखों का नर्त्तन सा होता रहता था, परन्तु महाराज वीतराग संन्यासी की भाँति उनके बीच रहते हुए भी उनसे विरक्त रहने लगे। महाराज का सङ्गीत-प्रेम आस-पास के राज्यों में प्रसिद्ध था, परन्तु इन दिनों सङ्गीत का ताल उन्हें काल सरीखा जान पड़ने लगा था। शुष्क से शुष्क हृदय को भुला देने वाली नर्त्तकियों की थपकियाँ महाराज के लिए कोई अर्थ न रखती

थीं। मानो समस्त ऐश्वर्यों की सार वस्तु, सुख-सामग्री की मादक-शक्ति किसी ने यन्त्र द्वारा खींच ली हो, और मील्ड-गढ़ राजप्रासाद में विलास नहीं, वरन 'विलास का कङ्काल' अवशिष्ट रह गया हो। चन्द्रसिंह का चित्त राज-काज में भी न लगता था। वे अपने सुयोग्य मन्त्री अजितसिंह पर ही समस्त राज्य-भार छोड़, एकान्त चिन्तन में अपना समय व्यतीत करने लगे।

उस दिन उनका मर्माहत चित्त कुछ और भी अधिक खिन्न था। उनका जी किसी काम में न लगता था। उनके प्रिय मित्र रणसिंह ने उनके कृपा-पात्र सङ्गीताचार्य भोला-नाथ को महाराज के मनोरञ्जनार्थ राजभवन में भेजा। परन्तु चन्द्रसिंह ने कुछ साधारण बातचीत के उपरान्त अनिच्छापूर्वक उन्हें बिदा कर दिया। तबले पर थाप पड़ने की नौबत ही न आई, क्योंकि उस समय तबले की एक-एक चोट सीधे उनके हृदय पर ही पड़ती। चन्द्रसिंह सब को बिदा करके उच्च राजभवन के तिमञ्जिले पर एकान्त में जा बैठे। केलो नदी की ओर वाली खिड़की खुली हुई थी। उसमें होकर आने वाले पवन के हलके झोंके चन्द्रसिंह के अव्यवस्थित बालों के साथ क्रीड़ा करने लगे। वे खिड़की के निकट बैठे हुए अपना बायाँ कपोल बाएँ हाथ की मुट्ठी पर रक्खे बाहर की ओर निराशा भरी चितवन से ताक रहे थे। कभी उन्हें केलो नदी वाली पनिहारिन का स्मरण हो

आता था; तो कभी चन्द्रा की चित्र-लिखित रूप-माधुरी का। वसन्त की वह हृदय-हारिणी सन्ध्या उनके ध्यान से न उतरती थी। वे विचार करने लगे—शिवसिंह को दीयागढ़ गए हुए न जाने कितने दिवस व्यतीत हो चुके, परन्तु उसका कोई समाचार आज तक नहीं मिल सका। क्या चन्द्रा के कोमल शरीर को अङ्क में भर कर उसके अधरामृत का पान कभी कर सकूँगा? परन्तु यह पनिहारिन? ओह! यह क्यों बार-बार मेरे मस्तिष्क की उस कोने वाली खिड़की को खोल कर कभी-कभी मेरे हृदय की ओर झाँकने सी लगती है? नहीं, मैं बलपूर्वक उस द्वार को बन्द कर दूँगा—पनिहारिन को प्रयत्नपूर्वक हटा दूँगा। चन्द्रसिंह नरेश है और वह उनकी एक तुच्छ प्रजा है—कन्या के तुल्य! संसार इस अनुचित आसक्ति को देख कर हँसेगा। मेरी चन्द्रा सौन्दर्य की देवी है। देवलोक की उर्वशी और मेनका उसके दर्शनार्थ मीलूगढ़ के चक्कर लगाया करेंगी। मैं अपनी दुर्बलता को झटक कर फेंक दूँगा × × ×।

अकस्मात् रणसिंह ने कमरे में प्रवेश किया। उस एकान्त भवन में किसी को आने की आज्ञा न थी, परन्तु रणसिंह के लिए कोई निषेध न था। चन्द्रसिंह का उन पर प्रेम था और रणसिंह भी चन्द्रसिंह के लिए समस्त कठिनाइयाँ सहन करने को उद्यत रहते थे। चन्द्रसिंह के कन्धे

पर हाथ रखते हुए रणसिंह ने कहा—किस चिन्ता में डूबे हुए हैं महाराज ?

चन्द्रसिंह का स्वप्न भङ्ग हुआ। चौंक कर बोले—"कुछ नहीं रणसिंह ! मैं विचार रहा था कि शिवसिंह किसी विपत्ति में तो नहीं पड़ गया ? कितने दिन बीत गए, परन्तु उसका कोई समाचार नहीं मिल सका।" रणसिंह ने वास्तविक विषय पर आते हुए कहा—"कुमारी चन्द्रावती के लिए आप इतने अधिक चिन्तित क्यों हैं महाराज ! शिवसिंह भी शीघ्र ही इसी समय आता होगा।" इसी समय उनके विशेष द्वारपाल ने आकर कहा—"महाराज ! शिवसिंह आए हैं।" चन्द्रसिंह ने आवेश के साथ उत्तर दिया—"अच्छा उन्हें यहीं लिए आओ।" परन्तु फिर रुक कर रणसिंह के प्रति बोले—"अथवा रणसिंह हम लोग दरबार में ही चलें ?" "ठीक है" कहते हुए रणसिंह उठ खड़े हुए। आतुरता के साथ दोनों ने सुसज्जित दरबार-भवन में प्रवेश किया। साथ ही दूसरे द्वार से शिवसिंह आते दिखाई दिए। अधीर होकर चन्द्रसिंह ने पूछा—"क्या समाचार लाए शिवसिंह ?" "विजय महाराज !" शिवसिंह ने आनन्दोल्लास के साथ उत्तर दिया—"राजकुमारी महाराज के प्रेम-पाश में पूर्ण रूप से बँध चुकी है। वह विषाद की मूर्ति बनी हुई महाराज के वियोग की घड़ियाँ गिन रही है।" चन्द्रसिंह ने अपने आनन्दोल्लास को

बरबस दबाते हुए कहा—"शिवसिंह अब अधिक पहेली न बुझाओ। आदि से अन्त तक विस्तृत समाचार शीघ्र ही कह डालो। मेरा मन कुमारी का सम्बाद सुनने के लिए व्यग्र हो रहा है।" शिवसिंह ने क्रमशः समस्त घटनाओं का उल्लेख करते हुए अन्त में इन्दु-हरण की करुण-कहानी सुनाई। चन्द्रसिंह कथा सुनते-सुनते कभी प्रेम-विह्वल हो उठते थे, कभी वीर दर्प के साथ उनकी भुजाएँ फड़कने लगती थीं। उनका उत्साह प्रति क्षण बढ़ता जाता था। परन्तु अन्तिम अंश सुन कर उनका हृदय खेद से भर गया। कर्मागढ़-नरेश की दुष्टता का स्मरण आते ही क्षत्रियोचित क्रोध के कारण उनके होंठ तथा भौं फड़कने लगे। वीर दर्प के साथ खड़े होकर उन्होंने तीव्र स्वर में कहा—"रणसिंह! चन्द्रावती की प्राप्ति का उपाय पीछे किया जायगा। पहले कर्मागढ़-नरेश को उनके अन्याय का यथोचित दण्ड देना होगा।" कर्णसिंह को अपने बल तथा वैभव का अभिमान हो गया है! उनका गर्व चूर्ण करना होगा। अबला की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है। जब तक एक भी वीर क्षत्रिय संसार में जीवित है, तब तक एक भी अबला पर अत्याचार न हो सकेगा। कर्णसिंह ने कुमारी इन्दुमती का हरण करके क्षत्रिय-जगत् के विमल गौरव पर कलङ्क लगाया है। तलवार की चोट से गिर कर उनका खून उस कलङ्क को धोएगा अथवा धोएँगे उन्हीं के पश्चात्ताप के आँसू।

रणसिंह ! मेरा ख़ून उबल रहा है। मैं अधिक विलम्ब नहीं कर सकता। मेरी आज्ञा है कि शीघ्र ही सेना सुसज्जित की जाय। कर्मागढ़ की भूमि पर रणचण्डी का ताण्डव होगा। विश्व देखेगा कि अबोध क्षत्रिय-कन्या के अपमान का क्या अर्थ होता है। बहुत दिनों से विश्राम करने वाली मेरी तलवार आज ख़ून की प्यासी हो उठी है। रणसिंह! कर्ण-सिंह के पूर्वजों का शीघ्र ही उनके सुयोग्य पुत्र द्वारा शोणित-तर्पण होगा। अलग करो समस्त वैभवों को। विलास का समय नहीं। हृदय प्रेम-पिपासा पीछे तृप्त करेगा। पहले उसे रक्त-पिपासा तृप्त कर लेने दो। कल ही प्रस्थान होगा रणसिंह! सूर्योदय से पूर्व। कल भगवान भुवन-भास्कर हमें अकर्मण्य न देख सकेंगे। कर्णसिंह की यह धृष्टता × × ×।"

भावावेश के कारण चन्द्रसिंह का कण्ठ रुक गया। रणसिंह और शिवसिंह स्तब्ध होकर सुनते रहे। दोनों का हृदय वीरता से परिपूर्ण हो गया। चन्द्रसिंह की बातों का समर्थन करते हुए रणसिंह ने कहा—"ठीक है महाराज! कर्मागढ़-नरेश को उनकी धृष्टता का यथोचित दण्ड मिलना ही चाहिए। शिवसिंह, तुम शीघ्र ही 'आकस्मिक बिगुल' बजाने की आज्ञा दो। महाराज सेना को सम्बोधन करेंगे।"
शिवसिंह विद्युद्वेग के साथ दरबार से बाहर हुए। कुछ देर शान्त रहने के उपरान्त चन्द्रसिंह का ध्यान समस्या के दूसरे

पक्ष की ओर गया। उन्होंने कुछ धीमे स्वर में रणसिंह से कहा—"रणसिंह ! कुमारी चन्द्रावती अपनी प्रिय बहिन की विपत्ति से दुखी, विषाद और चिन्ता की मूर्ति बनी आज किसी लता-मण्डप के नीचे बैठी होगी। उसकी बालसङ्गिनी प्यारी इन्दु आज कर्मागढ़ के कारागार में होगी। उसकी दुरवस्था के नाना चित्रों की कल्पना करके बेचारी चन्द्रा घुली जाती होगी।"

रणसिंह ने दिलासा देते हुए कहा—"महाराज ! चिन्ता न करें। दीयागढ़ राज-परिवार पर जो विपत्ति आ पड़ी है, वह हमारी विपत्ति है। दीयागढ़-नरेश को लज्जा, ग्लानि और खेद के कारण सुख की नींद बिसर गई होगी। परन्तु भवितव्यता प्रबल होती है। विपत्तियाँ तो जीवन में आती ही रहती हैं। धैर्यपूर्वक उनको सहन करते हुए उनका निराकरण करने का उपाय ढूँढ़ना ही तो वीरता है।

इस बीच चन्द्रसिंह अपने मानस-पटल पर कर्मागढ़-युद्ध का चित्र खींच रहे थे। अस्त्रों की झनकार—हाथियों की चिङ्घार, वीरों की वीर हुङ्कार—उन्हें मानो स्पष्ट सुनाई दे रही थी। अकस्मात् उन्हें कुछ विचार आया। उन्होंने रणसिंह की ओर घूमते हुए कहा—परन्तु रणसिंह ! कर्मा-गढ़ पर अकस्मात् आक्रमण करना क्या कायरता न होगी ?

रणसिंह ने उपेक्षापूर्वक कहा—महाराज ! दुष्टों को दण्ड देते समय युद्ध-नीति की चिन्ता न करनी चाहिए।

चन्द्रसिंह ने विरोध करते हुए कहा—नहीं रणसिंह ! फिर भी कर्मागढ़-नरेश को इसकी सूचना दे देनी आवश्यक है। राज-अपराध प्राकृत जनों की कोटि में कैसे लाया जा सकता है ? तुम एक तीव्रगामी दूत के द्वारा उन्हें सूचना दो कि महाराज चन्द्रसिंह आपको नरमुण्ड-कन्दुक-क्रीड़ा के लिए आमन्त्रित करते हैं।

रणसिंह जाने के लिए उद्यत हुए। चन्द्रसिंह ने रोक कर कहा—"अथवा ठहरो ! अपराधी को पूर्ण दण्ड देने से प्रथम पश्चात्ताप का अवसर देना मनुष्यता के नाते आवश्यक है। उन्हें लिख दो कि यदि २४ घण्टे के भीतर कुमारी इन्दु के निष्कलङ्क चरण आपके पश्चात्ताप के आँसुओं से धुल कर दीयागढ़ की ओर न अग्रसर होंगे तो रणचण्डिका कर्मागढ़ की भूमि पर अपनी चिर रक्त-पिपासा × × ×" चन्द्रसिंह अभी अपना वाक्य समाप्त न कर पाए थे कि 'आकस्मिक बिगुल' बज उठा। दोनों का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ।

रणसिंह ने कहा—महाराज सुसज्जित होकर शीघ्र ही सेना को सम्बोधन करें। मैं आज्ञापालन के लिए जाता हूँ।

× × ×

आज वर्षों के उपरान्त आकस्मिक बिगुल बजाया गया था। मील्हूगढ़ राज्य के समस्त सैनिकों के दिल बिगुल के साथ ही दहल उठे। जो जहाँ जिस अवस्था में था, यन्त्र की

भाँति क्षण भर में सैनिक वेश धारण करके मील्लगढ़-प्रासाद की ओर दौड़ पड़ा। देखते ही देखते राजभवन के पश्चिमी मैदान में सुव्यवस्थित सैनिकों की भीड़ लग गई! सब लोग आकस्मिक बिगुल की आवाज़ सुन कर कुछ घबराए हुए से थे। परस्पर उत्सुक होकर सब लोग जिज्ञासा करते थे, परन्तु कोई न जानता था कि किस आकस्मिक दुर्घटना के कारण बिगुल बजाया गया है। घण्टे भर के भीतर ही मील्लगढ़ की विशाल सेना, नायकों के अनुशासन से सुव्यवस्थित रूप में खड़ी होकर महाराज चन्द्रसिंह की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगी। एक-एक क्षण उन्हें युगों के समान जान पड़ने लगा। सबकी दृष्टि ऊँचे मञ्च की ओर लगी थी, जिस पर खड़े होकर महाराज सम्बोधन करने वाले थे। उस मञ्च तक आने के लिए राजप्रासाद से एक गुप्त पथ बना हुआ था। ऐसे अवसरों पर उसी मार्ग का उपयोग किया जाता था। सैनिकों ने देखा, वीरभूषा से सुसज्जित महाराज चन्द्रसिंह सहसा उस मञ्च पर आ खड़े हुए। सैनिकों ने हर्षोल्लास के साथ उच्च स्वर में कहा—महाराज चन्द्रसिंह की जय!

समस्त वन-प्रान्त गूँज उठा। महाराज चन्द्रसिंह की वीरमूर्ति उस समय दर्शनीय थी। सैनिकों के कौतूहल को शान्त करते हुए चन्द्रसिंह ने गम्भीर स्वर में कहा—"वीर सैनिको! तुम सब अपना वीर-धर्म पहचानते हो। मील्लगढ़

की प्रजा होने के कारण तुम्हें कर्तव्य-शिक्षा की आवश्यकता नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ, अबला के अपमान का प्रतिशोध × × ×" वाक्य पूरा भी न कर पाए थे। समस्त सैनिक एक स्वर में बोल उठे—"मृत्यु महाराज ! मृत्यु।"

महाराज—और यदि वही अपराध किसी नामधारी राजा ने किया हो ?

सैनिकों ने और भी अधिक तीव्र स्वर में कहा—संग्राम।

महाराज ने दाहिना हाथ ऊँचा उठाते हुए कहा—बस मुझे और कुछ नहीं कहना है। मील्लूगढ़ के सैनिकों से मुझे यही उत्तर पाने की आशा थी। कर्मागढ़-नरेश ने दीयागढ़-कुमारी इन्दु को कायर की भाँति चुरा कर नारी-जाति का घोर अपमान किया है। कल सूर्योदय से पूर्व ही तुम्हें रण-चण्डिका के आह्वान के लिए कर्मागढ़ की ओर प्रस्थान कर देना होगा। कर्मागढ़ की भूमि पर अपनी तलवार की नोंक से तुम्हें यह पाठ लिखना होगा कि क्षत्रियबाला का अपमान करना प्रलय का आह्वान करना है। इतिहास के सुनहले पृष्ठ तुम्हारा कीर्ति-गान करने के लिए लालायित हो रहे हैं।

सैनिकों ने मेघ-गर्जन के साथ फिर एक बार कहा—महाराज चन्द्रसिंह की जय !

महाराज ने स्वर को कुछ और ऊँचा उठा कर कहा—यदि किसी कायर का हृदय रुधिर-कल्पना से काँप रहा हो

तो वह अपने स्थान से अभी चार पग पीछे हट जाय। मैं उसे क्षमा-दान देता हूँ।

समस्त सैनिक अचल शान्त खड़े रहे।

महाराज ने फिर कहा—स्मरण रखना, रणभूमि से पैर पीछे हटाने वाले के लिए महाराज चन्द्रसिंह के हृदय में क्षमा नहीं है। जिसे प्राणों का भय हो, वह अभी पीछे हट जाय। मैं उसे क्षमा-दान करता हूँ। संग्राम का प्रण ले लेने के उपरान्त क्षमा-भिक्षा न हो सकेगी।

समस्त सैनिक फिर उसी प्रकार अचल शान्त खड़े रहे। कुछ क्षण रुक कर महाराज ने परिवर्द्धित उत्साह के साथ कहा—"तो चलो, विजय की देवी रणभूमि पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। ईश्वर तुम्हें सफल करे।" सैनिकों ने देखा, अन्तिम वाक्य कहते-कहते महाराज उसी गुप्त द्वार से अन्तर्धान हो गए। जयघोष के साथ सेनापति दलपतिसिंह की आज्ञा पाकर सैनिक तितर-बितर हो गए। वीर सैनिकों की भुजाएँ फड़कने लगीं। अनेक वर्षों के उपरान्त युद्ध का अवसर पाकर सभी लोग उत्साह से भर गए। मन ही मन वे अपनी तलवार के घाट उतरे हुए पामरों की सख्या गिनने लगे। युद्ध के दाव-पेंच, वह कटा, वह गिरा × × × इत्यादि।

× × ×

उस दिन प्रातःकाल भगवान कमलिनी-नायक ने देखा, मील्लूगढ़ राजप्रासाद शान्त था। उनकी सुवर्ण रश्मियाँ राजप्रासाद की प्रत्येक खिड़की के भीतर झाँक आईं, परन्तु महाराज चन्द्रसिंह के दर्शन न हो सके। विलास-सामग्री का कहीं पता न था। चकित होकर उन्होंने अपनी विशाल दृष्टि को सुदूर वन-प्रान्तों की ओर दौड़ाया।

महाराज चन्द्रसिंह की सेना रण-वाद्यों की ताल पर चलती हुई मील्लूगढ़ से १० मील निकल चुकी थी। सभी वीर साहस तथा उत्साह की मूर्ति बने हुए थे। मुसकराते हुए भगवान अंशुमाली ने अपने असंख्य करों को फैला कर मील्लूगढ़ की सेना का अभिवादन किया।

चन्द्रसिंह ने घूम कर रणसिंह से कहा—युद्ध-सूचना के लिए दूत कर्मागढ़ भेजा जा चुका है ?

रणसिंह ने कहा—दूत आधा रास्ता पार कर चुका होगा महाराज !

महाराज चन्द्रसिंह के सुयोग्य मन्त्री अजितसिंह जी घोड़े पर चढ़े कुछ गम्भीर विचार में मग्न, सेना की दाहिनी ओर से रक्षा करते चले जा रहे थे। चन्द्रसिंह के रोषावेश के कारण अभी तक कुछ कहने का साहस उन्हें न हुआ था। महाराज को रणसिंह से कुछ बात करते देख उन्हें भी साहस हुआ। अपना घोड़ा तेजी से घुमा कर वे चन्द्रसिंह की बग़ल में ले आए। अजितसिंह की चिन्तित मुद्रा

देख कर रणसिंह ने कहा—कोई नई बात है क्या अजितसिंह ?

अजितसिंह—नहीं रणसिंह ! महाराज से कुछ निवेदन करने की इच्छा थी।

अपनी चर्चा सुन कर महाराज का ध्यान मन्त्री की ओर आकृष्ट हुआ। भौंहों से इशारा करते हुए उन्होंने कहा—क्या बात है अजितसिंह ?

अजितसिंह ने उपयुक्त अवसर समझ कर नम्रतापूर्वक कहा—महाराज ! दीयागढ़-नरेश की शोचनीय मानसिक व्यथा का चिन्तन करते हुए मुझे यह विचार आया कि यदि महाराज दीयागढ़ होते हुए चलें, तो वीरसिंह जी को अकथनीय आनन्द तथा सन्तोष मिल सके।

कुछ विचार करते हुए चन्द्रसिंह ने कहा—परन्तु इसमें समय तो बहुत अधिक लग जायगा।

अजितसिंह—नहीं महाराज ! अन्तर बहुत अधिक न पड़ेगा। क्योंकि सीधा कर्णागढ़ का मार्ग अच्छा नहीं है। यहाँ से कुछ ही दूर आगे चल कर दीयागढ़ का मार्ग अलग होता है। यदि महाराज की आज्ञा हो तो सेना को उधर ही चल पड़ने का आदेश दे दिया जाय।

चन्द्रसिंह ने मन ही मन विचार किया—कम से कम कुमारी चन्द्रावती को दृष्टि भर देखने का सुअवसर तो अवश्य ही मिल सकेगा। उन्होंने अपनी प्रेयसी के दर्शन

के लालच के कारण अधिक विरोध करना उचित न समझा। इधर रणसिंह को भी यह अनुमान पसन्द आया। उन्होंने महाराज को चिन्तामग्न देख कर कहा—महाराज ! अजितसिंह जी का कहना यथार्थ है। महाराज वीरसिंह जी को आश्वासन देना नितान्त आवश्यक है। इधर तब तक हमारा दूत भी कर्मागढ़-नरेश को सूचना दे चुकेगा। चन्द्रसिंह ने अपनी अनुमति दे दी। अजितसिंह जी ने सेनापति दलपतिसिंह के निकट जाकर चन्द्रसिंह की आज्ञा कह सुनाई। सेना दीयागढ़ की ओर चल पड़ी।

क्रमसिंह को भानुपुर छोड़े आज छठा दिन था। इस बीच न जाने उन्होंने कितने नगर तथा कितने ग्रामों का अनुसन्धान कर डाला, परन्तु कुमारी इन्दुमती की गन्ध तक उन्हें न मिल सकी। प्रतिदिन उनकी चिन्ता तथा निराशा बढ़ती जाती थी। वे प्रायः जन-समुदाय के बीच जा पहुँचते और लोगों की बातें सुनने लगते। भीड़ को एकत्र देख कर उन्हें आशा होने लगती, कदाचित् इन्दु की कोई चर्चा हो रही हो। परन्तु निकट जाने पर उन्हें निराश होना पड़ता था। चबूतरों पर चार-छः आदमियों की गोष्ठी देखते ही वे प्यास अथवा मार्ग पूछने के बहाने जा बैठते। विश्राम के मिस कुछ देर अटक कर बातों ही बातों में लोगों से राजकुमारियों की चर्चा छेड़ देते। अमुक राज्य की राजकन्या अत्यन्त सुन्दर है, अमुक राज-कुमारी का विवाह होने वाला है××× इत्यादि। उन्हें

आशा होती, कदाचित् राजकुमारियों के प्रसङ्ग में कोई कुमारी इन्दु की ही कहानी कह चले। परन्तु उनकी आशा आज तक पूर्ण न हुई थी। वे बार-बार चिन्तन करते थे कि यदि मैं कुमारी का कुछ भी पता न पा सका और कहीं मेघसिंह की चतुराई कुछ चल गई, तो वह मुझे आड़े हाथों लेगा। मैं उसे मुँह दिखाने योग्य न रहूँगा। वह बहादुरसिंह और महाराज वीरसिंह के सामने ही मुझ पर मर्म-वाक्यों की झड़ी लगा देगा। मुझे निर्लज्ज होकर सब कुछ सहन करना पड़ेगा। इसी प्रकार की विचार-धारा में डूबते-उतराते विक्रमसिंह सन्ध्या से पूर्व एक अपरिचित नगर के निकट आ पहुँचे। विक्रम ने वह रात्रि वहीं व्यतीत करने का निश्चय किया। नगर की शोभा देखने के लिए विक्रमसिंह उसके राजपथों पर विचरण करने लगे। उनका चिन्तित चित्त किसी वस्तु पर टिकता ही न था। प्रतिक्षण उनका हृदय इन्दु की अनिष्ट शङ्का से अधीर हो उठता था। इसी अनिश्चित अवस्था में भटकते हुए उन्हें रात्रि व्यतीत करने के लिए किसी उपयुक्त स्थान की चिन्ता हुई। एक सम्भ्रान्त नागरिक से प्रश्न करने पर उन्हें विदित हुआ कि इस अपरिचित नगर का नाम धुर्रापुर है। इसके उत्तर ओर एक विशाल अतिथि-भवन बना है। वर्तमान कर्मागढ़-नरेश के पिता ने आखेट-भवन के रूप में उसका निर्माण करवाया था; परन्तु

कर्णसिंह के हिंसासनारूढ़ होने के उपरान्त राज-परिवार ने उस पर कभी कृपा नहीं की। राजाज्ञा से ही वह भवन इन दिनों सभ्य पथिकों तथा नवागतों की सुविधा के लिए छोड़ दिया गया है।

विक्रमसिंह वेगपूर्वक उस अतिथि-भवन की ओर लपके। परन्तु उनके पहुँचने से पूर्व ही एक बारात समस्त भवन पर अधिकार जमा चुकी थी। द्वार पर ही अतिथि-भवन के चौकीदार ने उन्हें रोक कर आँखें तरेरते हुए तिरस्कार-पूर्ण स्वर में कहा—"कहाँ घुसे जा रहे हो ? जानते नहीं हो, यहाँ कर्मागढ़ की बारात टिकी है ?" एक साधारण से चपरासी द्वारा तिरस्कृत होकर विक्रमसिंह तिलमिला उठे। उन्होंने गरज कर कहा—"तो क्या सारी धर्मशाला बारातियों के ही लिए है ? जानते होगे कोई गँवार है ? याद रखना—मैं कर्मागढ़ महाराज तक पहुँचूँगा।"

चौकीदार इस समय अपने आपको लखनऊ के किसी 'बेमुल्क नवाब' से कम न समझ रहा था। क्योंकि उसे अभी-अभी बारातियों से पूरे साढ़े तेरह आने इनाम के मिल चुके थे। और अभी लगभग ढाई आने तक और मिलने की उसे पूरी आशा थी। उसने धक्का देकर विक्रम-सिंह को बाहर निकाल दिया। विजय-गर्व के साथ उनकी ओर घूँसा तानते हुए वह बोला—कर्मागढ़ महाराज नहीं भगवान के पास चला जा। धमकी किसे देता है ? स्वयं

महाराज के मित्र सेठ जमनालाल के बड़े लड़के की तो बारात है ? कर्मागढ़ महाराज की धमकी क्या देता है ?

विक्रमसिंह ने देखा कि चौकीदार से तकरार करके उन्हें मुँह की खानी पड़ेगी। अपने क्रोध को बरबस हृदय में दबा कर वे अँधेरे में इधर-उधर टहलने लगे। अन्धकार का साम्राज्य चारों ओर स्थापित हो चुका था। उन्हें अपनी निराश्रय दशा पर ग्लानि और चिन्ता होने लगी। वे स्वभाव के ही क्रोधी थे। फिर इस समय तो उनके आत्म-गौरव को एक दो कौड़ी के आदमी ने ठुकरा दिया था। उससे इसका प्रतिशोध लिए बिना उनके हृदय को शान्ति न मिल सकती थी। आवेश में भरे हुए मन ही मन उन्होंने निश्चय किया, जैसे भी होगा मैं आज ठहरूँगा यहीं। अकस्मात् उनके मन में कुछ विचार को रेखा दौड़ गई। उनका चित्त आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा। सहसा वे उस अन्धकार के बीच उन्माद-ग्रस्त व्यक्ति की भाँति खिलखिला कर हँस पड़े। कुछ देर तक वे बाज़ार में कई वस्तुओं का संग्रह करते फिरे। प्रायः आध घण्टे के बाद वे गन्धी का रूप धारण किए पूर्ण सन्तोष के साथ टहलते हुए फिर अतिथि-भवन के द्वार पर पहुँचे। उनके हाथ में कुछ इत्र की शीशियाँ थीं। चौकीदार अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक अपने महान उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य को पूरा करने के उद्देश्य से द्वार पर पहले की भाँति डटा हुआ था। गन्धी को देख कर

वह बिजली की भाँति कड़क कर 'अतिथि-भवन में स्थानाभाव' की सूचना देने ही वाला था कि गन्धी उसे इसके लिए अवसर दिए बिना ही बोल उठा—सरकार ! सुना है कि धर्मशाले में किन्हीं भाग्यवान रईस की बारात ठहरी हुई है। ईश्वर उन्हें सुखी रक्खें। मैं बढ़िया इत्र लेकर हाज़िर हुआ हूँ।

चौकीदार ने मुँह बना कर कहा—परन्तु इस समय सेठ जी से मिलना असम्भव है। सुबह आना चाहो तो आ सकते हो।

गन्धी ने विनयपूर्वक कहा—सरकार, कम से कम सेठ साहब को खबर तो कर देते। मैं सरकार को भी बढ़िया इत्र की एक शीशी और मुनाफ़े का दसवाँ हिस्सा नज़र करूँगा।

गन्धी का आदरपूर्ण निवेदन सुन कर चौकीदार फूल कर कुप्पा हो गया। इनाम पाने के लालच से उसके मुँह में पानी भर आया। फिर भी अपनी प्रसन्नता को बरबस छिपाते हुए उसने गर्व के साथ कहा—मैं यदि सेठ जी से कह दूँ तो अभी तुम्हें भीतर बुला लें, परन्तु पहले मुझे इत्र की शीशी दो।

गन्धी ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए शीशी बढ़ा दी। चपरासी राम को इस जीवन में इत्र सूँघने को कहाँ मिला था ? उन्होंने मारे आनन्द के झटपट शीशी की डाट खोल

डाली। उसका मुँह नाक से अड़ा कर उन्होंने ख़ूब लम्बी साँस खींची। इत्र की भीनी-भीनी सुगन्ध से उनका मस्तक सप्तम आकाश पर जा चढ़ा। चढ़ी हुई साँस को बाहर निकालने से पूर्व ही चौकीदार अचेत होकर गन्धी की गोद में जा गिरा।

विक्रमसिंह ने देखा, चौकीदार को कम से कम बारह घण्टे की छुट्टी मिल गई। झटपट उसे उठा कर वे नगर के बाहर बगीचे में डाल आए और स्वयं चौकीदार बन कर वे पल भर में अतिथि-भवन के द्वार पर आ डटे। इधर बारातियों में भीतर ख़ूब नाच-रङ्ग हो रहा था। विक्रमसिंह दौड़-धूप के उपरान्त अभी प्रकृतिस्थ न होने पाए थे कि भीतर से एक नवयुवक ने आकर पुकारा—"चौकीदार, चौकीदार!" चौकीदार ने बढ़ कर उत्तर दिया—"हाँ सरकार!"

नवयुवक—कहाँ गया था? थोड़ा पानी तो ले आ। प्यास लगी है। विक्रमसिंह के आनन्द की सीमा न रही। दूसरे ही क्षण उसने पानी का ग्लास नवयुवक के हाथ में देते हुए कहा—"लीजिए सरकार!" नवयुवक को बहुत तीव्र प्यास लगी थी। उसने सारा पानी पी डाला। ग्लास खाली होते ही वह भी उसी लोक में विचरण करने लगा, जिसकी हवा चौकीदार अभी तक खा रहा था। नवयुवक गिरना ही चाहता था कि विक्रमसिंह ने उसे थाम लिया। सारे बाराती आनन्दोत्सव में मग्न थे। इस विचित्र नाटक की सूचना

किसी को न थी। विक्रमसिंह इस नवयुवक को पूर्ववत् उठा कर नदी के किनारे आम के एक पेड़ से बाँध आए। इस बार उन्होंने उस नवयुवक का ही रूप धारण कर लिया। परन्तु अन्य बारातियों के समक्ष जाने का उन्हें साहस न होता था। रोषावेश के कारण वे यह सब कर बैठे थे, परन्तु अब उन्हें अपरिचित मण्डली में प्रतिक्षण रहस्योद्-घाटन की आशङ्का होने लगी। निदान कुछ निश्चय न कर सकने के कारण वे चौकीदार की कोठरी में चले गए। एक छोटा सा दीपक एक कोने में टिमटिमा रहा था। उसी के प्रकाश में उन्होंने देखा कि कोठरी के किवाड़ों का एक शीशा फूटा हुआ था। सहसा उन्हें न जाने क्या सूझा, उन्होंने कोठरी का द्वार बन्द कर दिया और भीतर से उसी अवकाश में हाथ डाल कर बाहर की ज़ञ्जीर चढ़ा दी। इस प्रकार वे स्वयं उस कोठरी में बन्दी हो गए। उधर उत्सवों की चहल-पहल में किसी ने उस नवयुवक की सुध न ली। नृत्य-वाद्यों से थक कर क्रमशः सब लोगों ने अपनी-अपनी शय्या की शरण ली। प्रातःकाल होते ही यात्रा का उपक्रम होने लगा। अकस्मात् सेठ जमनालाल जी ने इधर-उधर देख कर कहा—रामलाल नहीं दिखाई देता। लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। 'नन्हे भैया, नन्हे भैया' की पुकार मचने लगी। परन्तु नन्हे भैया का कहीं पता न था। इधर विक्रमसिंह कोठरी में पड़े सब सुन रहे थे। उन्हें समझते

देर न लगी कि उनका नया नाम रामलाल है तथा वे सेठ जमनालाल जी के छोटे लड़के बने हुए हैं। सेठ जमनालाल जी की चिन्ता की सीमा न रही। अतिथि-भवन भर में कुहराम सा मच गया। सहसा चौकीदार की कोठरी से आवाज़ आई—"मुझे यहाँ किसी ने बन्द कर दिया है।" शब्द सुनते ही सब लोग उधर ही दौड़ पड़े। रामलाल उर्फ़ 'नन्हे भैया' बाहर निकाले गए। सभी के हृदय आश्चर्य तथा भय से काँप उठे। नन्हे भैया ने इधर-उधर चकित दृष्टि फिरा कर कहा—"चौकीदार कहाँ है?" परन्तु चौकीदार का कहीं पता न था। नन्हे भैया ने माथा ठोंक कर कहा—"मुझे चौकीदार ने न जाने कैसा पानी पिला दिया, मैं अचेत हो गया। जान पड़ता है, मुझे इस कोठरी में बन्द करके कहीं भाग गया है।" अकस्मात नन्हे भैया की दृष्टि अपनी उँगलियों पर पड़ी—चौंक कर उन्होंने कहा—"और मेरी अँगूठी? चपरासी मेरी सोने की अँगूठी निकाल ले गया। ओह! इस अँगूठी के ही लोभ में उसने मेरे साथ यह व्यवहार किया। बारातियों के क्रोध की सीमा न रही। चारों ओर चौकीदार की खोज होने लगी। परन्तु बेचारा चौकीदार तो अभी किसी दूसरे ही जङ्गल में विचर रहा था। इधर यात्रा का समय व्यतीत होता चला जा रहा था। निश्चय हुआ कि शीघ्र ही कर्मागढ़ चल कर महराजा कर्णसिंह को इस दुर्घटना का समाचार देना चाहिए।

बारात ने कर्मागढ़ की ओर प्रस्थान कर दिया। अभी सब नगर के बाहर हुए ही थे कि वही चौकीदार दौड़ कर आता हुआ दिखाई दिया। चौकीदार को देखते ही बाराती उस पर टूट पड़े। बेचारे चौकीदार को कुछ कहने का अवसर ही न मिला। मार के रूप में जितना पारितोषिक उसके भाग्य में विधाता ने आज के लिए लिख रक्खा था, वह तो उसे मिला ही, इधर लोग कर्मागढ़ के कारागार में उसके भोजन-वसन-निवास का स्थायी प्रबन्ध कर देने के लिए उसे बाँध भी ले चले। वह इस आकस्मिक आतिथ्य के लिए सहमत न था, परन्तु इस सम्बन्ध में उसकी अनुमति लेने की आवश्यकता ही न समझी गई।

इधर विक्रमसिंह अपने प्रतिशोध पर फूले न समाते थे। बेचारे चौकीदार के आश्चर्य का अनुमान लगाने का भार तो पाठकों पर ही छोड़ देना उचित जान पड़ता है।

बारात के दो-तीन व्यक्ति विक्रम को कुछ परिचित से जान पड़ने लगे। वे बारम्बार अपना सिर खुजलाते उनकी ओर देखते, परन्तु उन्हें ध्यान न आता था कि इन लोगों को कहाँ देखा है। बाराती अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों की चर्चा करते हुए चले जा रहे थे। अकस्मात् उन्होंने सुना, जमनालाल जी अपने मुनीम की ओर मुड़ कर पूछ रहे हैं—"हम लोग भानुपुर से कितनी दूर आ गए हैं मुनीम जी!" मुनीम जी ने पीछे की ओर

ताकते हुए कहा—"लगभग चालीस मील।" भानुपुर का नाम सुनते ही विक्रमसिंह का हृदय कौतूहल से भर गया। उन्हें सहसा स्मरण हो आया कि अर्द्ध-परिचित बारातियों को उन्होंने सेठ दीनदयाल के द्वार पर देखा था। वे सेठ जमनालाल जी के और भी निकट आ पहुँचे। सेठ जी ने दीर्घ-निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"तब तो हम लोग कर्मागढ़ के बहुत कुछ निकट आ पहुँचे हैं।" मुनीम ने सिर हिला कर उत्तर दिया—"जी हाँ।" नन्हे भैया की ओर ताकते हुए सेठ जी बोले—"कर्मागढ़ पहुँचते ही महाराज से इनका समस्त समाचार सुना कर इस दुष्ट चौकीदार की अच्छी दुर्दशा कराऊँगा। देखिए, कैसा इसका साहस है?"

मुनीम ने आश्चर्यपूर्ण मुद्रा में कहा—जी हाँ, इसका उचित दण्ड मिलना ही चाहिए।

सेठ जी को अकस्मात् कुछ स्मरण हो आया। उन्होंने कुछ निराशा प्रकट करते हुए कहा—"परन्तु महाराज का चित्त इन दिनों एक विशेष चिन्ता में डूबा रहता है। वे रात-दिन उदास तथा खिन्न बने रहते हैं। उनका मन किसी काम में नहीं लगता। ऐसी दशा में उनके निकट यह सब पचड़ा ले जाने में कुछ सङ्कोच होता है।" मुनीम ने जिज्ञासा की—"महाराज को ऐसी कौन सी चिन्ता ने धर दबाया है?" सेठ जी ने मुसकुराते हुए उत्तर दिया—"मुनीम जी, जिसे संसार में कोई नहीं दबा सकता, उसे एक सुन्दरी अपने तीखे

नयन-शरों से घायल कर डालती है। महाराज कर्णसिंह जी दीयागढ़ की राजकुमारी चन्द्रावती के प्रेम-पाश में बँधे हुए हैं। उन्हें न नींद रह गई है न भूख। उसको अधिकार में करने के लिए चतुरसिंह निकल भी चुके हैं। हम लोगों को कर्मागढ़ छोड़े हुए आज दसवाँ दिन है। इस बीच में वहाँ क्या-क्या नवीन घटनाएँ घट चुकी हैं, यह मैं नहीं जानता। परन्तु इतना समाचार मैं जानता हूँ। तुम जानते हो, महाराज मुझ पर कितना अधिक विश्वास करते हैं।"

विक्रमसिंह उधर ही कान लगाए सारी बातें सुन रहे थे। उनका हृदय आनन्द तथा आश्चर्य से भर गया। उन्हें विश्वास हो गया कि इन्दु कर्मागढ़-नरेश के ही अधिकार में है। पिछली रात की समस्त घटनाओं का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने भगवान को धन्यवाद दिया, जिसने उन्हें अकस्मात् इस गोरखधन्धे में डाल दिया था। उन्हें अब अपनी सफलता की आशा दिखाई देने लगी। वे उत्साह-पूर्वक मन ही मन अनेक उपायों की कल्पना करते हुए बारात के साथ-साथ कर्मागढ़ पहुँच गए। सेठ जी को कर्मागढ़ पहुँचते ही महाराज से मिलने की चिन्ता हुई। अपने दोनों पुत्रों तथा बन्दी चौकीदार को लिए हुए वे राजप्रासाद में पहुँचे। कर्णसिंह, चतुरसिंह तथा अन्य दो-तीन विश्वासपात्र अनुचरों के साथ चिन्ताग्रस्त बैठे हुए थे। सेठ जी को देखते ही उन्होंने कृत्रिम मुसकराहट के

साथ पुत्र के विवाह के लिए सेठ जी को बधाई दी। सेठ जी ने नीचे झुक कर धन्यवाद दिया। फिर रहस्यपूर्ण ढङ्ग से उन्होंने चतुरसिंह की ओर भौंह नचाते हुए पूछा—"महाराज, चतुरसिंह तो खाली हाथ न लौटे होंगे?" महाराज का मौन आदेश पाकर चतुरसिंह ने आदि से अन्त तक इन्दु-हरण की कहानी कह सुनाई। सेठ जी ने बधाई सहित आश्वासन देते हुए कहा—"महाराज, जब मैना आ फँसी है तो कभी न कभी तो वह सुर निकालेगी ही। पहले-पहल तो नई ब्याही हुई बहू भी भड़कती है। सुनते हैं, नूरजहाँ ने सात बरस पीछे जहाँगीर के गले में बाँह डाली थी।" महाराज को सेठ जी की बात जँच गई। उनकी आशालता लहलहा उठी। कर्णसिंह को कुछ प्रसन्न देख सेठ जी ने नन्हे भैया वाली दुर्घटना कह सुनाई। सब लोग आश्चर्य के साथ सुनते रहे। महाराज की आज्ञा से बन्दी चौकीदार भीतर लाया गया। चतुरसिंह ने कड़क कर पूछा—"ठीक-ठीक बताओ, क्या बात है? नहीं तो सिर काट लिया जायगा।" चौकीदार खड़ा थरथरा रहा था! उसे स्वयं अपने ही ऊपर अविश्वास होने लगा था। फिर भी अपनी सम्पूर्ण स्मृति तथा शक्ति बटोर कर उसने गन्धी वाला प्रसङ्ग कह सुनाया। उसने कहा—"जब मुझे चेतना हुई तो मैं आम के बग़ीचे में पड़ा था। दौड़ा हुआ मैं धर्मशाले में पहुँचा। बारात प्रस्थान कर चुकी थी। इनाम के लालच में मैं बारात के पीछे

दौड़ा, परन्तु पैसों के बदले यह इनाम पा रहा हूँ।" चौकीदार की बात पर कौन विश्वास करता? महाराज ने अधिक समय नष्ट करना उचित न समझ उसे कारागार में भिजवा दिया। परन्तु चतुरसिंह न जाने क्यों कुछ गम्भीर विचार में पड़ गए। कुछ साधारण वार्तालाप के उपरान्त सेठ जी ने अवसर देख कर कहा—"महाराज, सेठ दीनदयाल ने ऐसा नायाब हीरा दामाद को भेंट किया है कि उसकी प्रशंसा नहीं करते बनती। मैं तो समझता हूँ, वह आपके रत्न-भाण्डार के उपयुक्त है। और यदि इन्दुमती उसे कहीं पा जाय तो सहस्रों प्राण आप पर न्योछावर कर देगी।" यह कहते हुए सेठ जी ने जगमगाता हुआ हीरा महाराज की ओर बढ़ाया। महाराज आश्चर्य से उसका निरीक्षण करने लगे। चतुरसिंह की ओर देखते हुए उन्होंने कहा—"क्यों चतुरसिंह, इन्दु के पास इसे पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए न?" चतुरसिंह ने कुछ विचारते हुए कहा—"महाराजकुमारी हम लोगों से तो इतनी अधिक घृणा करने लगी हैं कि वे हमें देखते ही आँखें बन्द कर लेती हैं। क्रोध से बड़बड़ाने लगती हैं। हाँ, नन्हे बाबू अभी नवयुवक हैं। इसके अतिरिक्त कुमारी का अभी इनसे साक्षात्कार भी नहीं हुआ। यदि नन्हे बाबू हीरा ले जायँ तो कदाचित् वे इसकी ओर दृष्टि भर देख कर पसन्द करें।" विक्रमसिंह के आनन्द की सीमा न रही। सबको चतुरसिंह की अनुमति अच्छी लगी। चतुरसिंह महाराज

का अनुशासन पाकर आवश्यक प्रबन्ध के लिए बाहर चले गए। कुछ क्षणों के उपरान्त द्वारपाल ने आकर कहा—"महाराज! चतुरसिंह जी कहते हैं, सब ठीक है। नन्हे बाबू चलें।" विक्रमसिंह हाथ में हीरा लिए हुए द्वारपाल के साथ-साथ इन्दुमती के निवासगृह की ओर चल पड़े। इधर महाराज ने सेठ जी की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि डालते हुए कहा—"सेठ जी, सचमुच आपका हीरा अमूल्य है, फिर भी मैं इसके लिए तीन हज़ार अशर्फ़ियाँ आपकी भेंट करना चाहता हूँ। आप स्वीकार करें।"

सेठ जी ने नम्रतापूर्वक कहा—नहीं महाराज ! मैं हीरे का मूल्य कदापि न लूँगा। महाराज की कृपा मेरे लिए बहुत है।

कर्णसिंह—"नहीं सेठ जी ! यह कैसे हो सकता है, आप को मूल्य लेना ही पड़ेगा।" सेठ जी के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही उन्होंने पास खड़े हुए अय्यार हरिसिंह के कान में कुछ कहा। अय्यार वेगपूर्वक दरबार-भवन के बाहर हुआ, तथा शीघ्र ही तीन हज़ार अशर्फ़ियों की थैली लिए हुए उसने कमरे में पुनः प्रवेश किया। सेठ जी ने असमञ्जस-पूर्ण स्वर में मना करते-करते अशर्फ़ियों की थैली समेटी। अभी यह व्यापार समाप्त ही हुआ था कि उन्होंने देखा, क्रोध से भरी हुई इन्दुमती, सिंहिनी की भाँति गरजती, नन्हे भैया की गरदन पकड़ कर ढकेलती हुई दरबार-भवन

में आ पहुँची। महाराज इस आकस्मिक घटना से स्तम्भित हो उठे। सेठ जी भी मारे भय के मूर्तिवत् खड़े रह गए। इन्दुमती ने अपने सिर की साड़ी नीचे सरकाते हुए कठोर स्वर से कहा—"महाराज! आश्चर्य न करें, मैं इन्दुमती नहीं हूँ और न यह नन्हे भैया हैं। मैं चतुरसिंह हूँ। चौकीदार की बात सुन कर ही मुझे सन्देह हो गया था। मैंने जान-बूझ कर नन्हे भैया को हीरा ले जाने की अनुमति दी थी। तथा स्वयं इन्दु बन कर प्रथम ही इन्दु के स्थान पर जा बैठा था। नन्हे भैया ने हीरा भेंट करते हुए मुझसे एकान्त में कहा—"इन्दु! चिन्ता न करना, मैं विक्रमसिंह हूँ। तुम्हें मुक्त करने के लिए मैं यहाँ आ पहुँचा हूँ। महाराज! यह विक्रमसिंह हैं।" विक्रम अकस्मात् इन्दु के धक्के खाकर स्तम्भित रह गए थे। उन्होंने समझा था कि कारागार के असह्य कष्टों के कारण इन्दु पागल हो गई है। परन्तु चतुरसिंह की इस विजय से लज्जित होकर उन्होंने सिर झुका लिया। सेठ जमनालाल जी तो एकदम बौखला गए। उनके नन्हे भैया की गरदन पकड़ कर एक औरत धक्के देती हुई लाती है और कहती है कि यह नन्हे भैया नहीं, विक्रमसिंह अय्यार है। तो नन्हे क्या हुआ? सब लोग चकित खड़े हो थे कि एक नौकर गरम जल से भरा कटोरा ले आया। चतुरसिंह ने नन्हे भैया का मुँह धो डाला। सेठ जी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने

आश्चर्य के साथ कहा—"फिर मेरा नन्हे कहाँ गया चतुरसिंह ?"

चतुरसिंह—यही पाजी बताएगा।

विक्रमसिंह—और यदि मैं न बताऊँ तो ?

"तो मैं बताऊँगा" कहते हुए वास्तविक नन्हे भैया ने दरबार-भवन में प्रवेश किया। कुछ क्षणों तक सेठ जी तथा अन्य जन आँखें फाड़-फाड़ कर नन्हे की ओर ताकते रहे। फिर पुत्र-स्नेह से विह्वल हो दौड़ कर सेठ जी ने नन्हे को गले लगा लिया। नन्हे ने अपनी बीती कह सुनाई। अन्त में उसने कहा—चेतना होते ही मैं कर्मागढ़ दौड़ता हुआ आया। इस घटना का समाचार देने के लिए मैंने सबसे प्रथम महाराज के समक्ष उपस्थित होना उचित समझा। विक्रमसिंह ने देखा, पाँसे बिलकुल उलट गए। सब घटनाओं का क्रम मिलाते ही चौकीदार को निर्दोषिता महाराज की समझ में आ गई। चौकीदार छोड़ दिया गया तथा उसके स्थान का पथ विक्रमसिंह को दिखा दिया गया।

× × ×

जब तक हमारे चिर-परिचित दीयागढ़ के चारों अय्यार अपनी अनुसन्धान-यात्रा में साथ-साथ थे, तब तक उत्तर-दायित्व का भार किसी को नहीं जान पड़ता था। सभी लोग बहादुरसिंह से पथ-प्रदर्शन की आशा करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। परन्तु बहादुरसिंह ने उनके

शिथिल मस्तिष्कों को गति प्रदान करने के लिए ही चारों को पृथक् कर दिया था। यही कारण है कि सदैव विक्रम से नोंकझोंक करते रहने वाले मेघसिंह भी दुपहर की असह्य कड़ी धूप को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए अपने कठिन मार्ग से संग्राम कर रहे थे। बारम्बार उनके अन्तरतम से 'विश्राम' की पुकार हो रही थी। किसी सघन बट-वृक्ष को देखते ही उनका मन तनिक देर उसकी शीतल छाया तथा मन्द समीर का आनन्द ले लेने के लिए उन्हें फुसलाने लगता, परन्तु वे गहन कर्त्तव्य का भय दिखा कर उसे डाँट देते थे। वे विचारने लगते थे कि राजदुलारी इन्दु न जाने कहाँ किन कठिनाइयों में पड़ी परतन्त्रता की घड़ियाँ गिन रही होगी और मैं ऐसा कोमल हुआ जा रहा हूँ कि पग-पग पर वृक्षों की शीतल छाया के लिए ललचा उठता हूँ। निरन्तर अपने पथ पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होते ही जा रहे थे। इतने दिनों में भानुपुर से चल कर कहाँ-कहाँ भटकते हुए किस दिशा में जा पहुँचे थे, इसका भी उन्हें कुछ ध्यान न रहा था। अकस्मात् उनकी दृष्टि बहुत दूर पूर्व दिशा में स्थित निर्जन मन्दिर पर जा पड़ी। मन्दिर एक बट-वृक्ष की सघन छाया में बना हुआ था। कठिन ताप से झुलसी हुई उनकी आँखें दूर से ही मन्दिर की रमणीयता तथा शीतलता की कल्पना से ललचा उठीं। इस बार वे तनिक देर विश्राम ले लेने के लोभ का सम्बरण न कर सके। उनके

धूल से लदे हुए पैर बरबस उसी ओर अग्रसर होने लगे। लम्बी-लम्बी जीर्ण जटाएँ लटकाए बट-वृक्ष, वयोवृद्ध संन्यासी की भाँति मन्द पवन-विदोलित अपनी नन्हीं टहनियों को झुला-झुला कर मेघसिंह को क्षण भर अपने शीतल अङ्क में विश्राम देने के लिए बुला रहा था। मेघसिंह इस प्रेमपूर्ण आवाहन की अवहेलना न कर सके। परन्तु मन्दिर के निकट जाकर न जाने किस वस्तु पर उनकी दृष्टि पड़ी, वे सहसा चौंक कर चार पग पीछे हट गए। उन्होंने देखा, मन्दिर की जगत पर, उस जटाधारी वृक्ष के तले एक जटाधारी संन्यासी पड़ा खुर्राटें ले रहा है। मेघसिंह को नवलसिंह की सम्पूर्ण कहानी का स्मरण हो आया। नीले सन्दूक़ की पूरी कथा उनके मस्तिष्क में दौड़ गई। वह संन्यासी वही सुवर्णकार संन्यासी था। मेघसिंह का शरीर संन्यासी को देखते ही थर-थर काँप उठा। परन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें स्मरण हो आया कि 'नीले सन्दूक़' के रहस्य में संन्यासी भी तो सना हुआ है। दोनों ही समान भुक्तभोगी हैं। फिर इसमें भय क्या? मेघसिंह प्रकृतिस्थ होकर धीरे-धीरे संन्यासी के निकट गए। संन्यासी अभी तक घोर निद्रा में अचेत पड़ा था। उन्होंने जेब से एक सुगन्धित रूमाल निकाल कर संन्यासी की नाक पर अड़ा दिया। फिर निश्चिन्त होकर उसके झोले की तलाशी लेने लगे। कोई विशेष सामग्री न पाकर उसे

बन्द ही कर देने वाले थे कि उनकी दृष्टि एक सुन्दरी रमणी के चित्र पर पड़ी। उन्होंने अनुमान किया कि हो न हो यह उसी बाला का चित्र है, जिसकी चर्चा नवलसिंह ने की थी। बाला अपने बाएँ हाथ की उँगली दाहिने कपोल पर रक्खे बड़े हाव के साथ खड़ी मुसकरा रही थी। मेघसिंह ने उस चित्र के सहारे बड़ी चतुराई के साथ अपने मुख-मण्डल को रँग डाला। बाला का चित्र उन्होंने अपने बटुए में रख कर संन्यासी का झोला ज्यों का त्यों बाँध यथास्थान रख दिया। इधर मेघसिंह के रूमाल का प्रभाव दूर होते ही संन्यासी की निद्रा भङ्ग हुई। अपनी प्रेयसी को निकट देख वह कुछ देर आश्चर्यचकित रह गया। आँखें मलते हुए संन्यासी ने कहा—"क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ डाली?" डाली ने मुसकराते हुए उत्तर दिया—"नहीं, मैं सचमुच आपकी प्यारी डाली हूँ।"

संन्यासी—परन्तु भानुपुर से इतनी दूर तुम यहाँ कैसे आईं?

डाली—और मैं पूछती हूँ, भानुपुर से तुम यहाँ कैसे आ गए?

संन्यासी—डाली! तुम्हें सोने की ईंट और 'सुवर्ण-रहस्य' पुस्तक देने के उपरान्त उस 'नीले सन्दूक़' की स्मृति के कारण मेरा शरीर थरथर काँपने लगा। तुम चली गई थीं। मेघसिंह से तुमने नीले सन्दूक़ का रहस्य

कैसे जाना ? कहाँ जाना ? यह तुमने हजार पूछने पर भी न बताया। न बताओगी। मैं जानता हूँ, तुम अपनी धुन की पक्की हो। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो मेघसिंह भानुपुर में ही हों। जब तुम सारा रहस्य जान ही गई हो तो यह भी जानती ही होगी कि हम दोनों एक दूसरे के सामने होने में कितना काँपते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो उस निविड़ अन्धकार को पार करके मेघसिंह मेरी ओर लपकता हुआ चला आ रहा है। मैं उसी रात को वहाँ से चल पड़ा।

मेघसिंह चकित तथा भयभीत होकर मन ही मन विचार करने लगे कि जान पड़ता है, यह दुष्ट नवलसिंह सुवर्ण-रहस्य पुस्तक भी ठग ले गया है। कैसा पाजी है? भानुपुर में उसने इस बात की चर्चा भी नहीं की। अपनी मानसिक चिन्ता को छिपाते हुए उन्होंने संन्यासी को भ्रम में डालने के उद्देश्य से कहा—आप कह क्या रहे हैं? आपने मुझे सुवर्ण-रहस्य पुस्तक कब दी? और मैंने आपकी सोने की ईंट कहाँ ली थी?

संन्यासी—अब क्या यह भी कहोगी। उस दिन जब तुम दूसरी बार लौट कर आई थीं। तभी तो मैंने पहले अनेक अवसरों पर तुमसे पूछा था कि नीले सन्दूक़ का रहस्य तुम्हें किसने बताया। तुमने अपने स्वाभाविक हठ के कारण कभी नहीं बताया। परन्तु उस दिन की बात भूल

गईं ? सुवर्ण-रहस्य बता देने का वादा करने पर स्वयं तुम्हीं ने कहा था कि मेघसिंह ने तुम्हें नीले सन्दूक़ का रहस्य बताया। इस प्रकार हठ करके तुम पूरा भेद बताए बिना मुझसे मेरी प्यारी पुस्तक ले गई थीं।

डाली ने टोंक कर कहा—बस अधिक बातें न बनाइए। मैं जानती हूँ, आपको उपन्यासों की कहानियाँ कहना बहुत आता है।

संन्यासी ने अधीर होकर कुछ तीव्र स्वर में कहा—डाली! तुम मुझे पागल कर दोगी। मेरे अन्तिम मिलन की अँधेरी रात तुम इतनी जल्द भूल गईं।

डाली—"मैं अपनी सौगन्ध खाकर कहती हूँ, आपने पुस्तक मुझे नहीं दी। आपके पास से चल कर मैं एक विचित्र दुर्घटना के चक्कर में पड़ गई।" डाली ने बुढ़िया की कहानी कहते हुए अन्त में कहा—"जब मुझे चेतना हुई तब देखा, बुढ़िया का कहीं पता भी न था। मैं भयभीत होकर आपकी धूनी की ओर दौड़ी। परन्तु वहाँ कोई न था। मैंने जान लिया, आप सुवर्ण-रहस्य छिपाने के उद्देश्य से कहीं भाग गए हैं। तब से उसी के जानने के लिए आपको ढूँढ़ती हुई आज यहाँ तक आ पहुँची हूँ।"

संन्यासी ने माथा ठोक कर कहा—ओह! मैं समझ गया। अवश्य ही यह पाजी मेघसिंह मुझसे सुवर्ण-रहस्य ठग ले गया है। क्योंकि नीले सन्दूक़ का रहस्य उसके

अतिरिक्त और कोई न जानता था। हाय ! मेरी बची-खुची सम्पत्ति भी उसने लूट ली। ठीक है, दीयागढ़ के अय्यार चन्द्रावती की खोज में निकले होंगे। यह दुष्ट अय्यार जन्म भर मेरा पिण्ड न छोड़ेगा। स्वयं डूबा और मुझे भी ले डूबा। अब यह और क्या चाहता है, भगवन् !

चन्द्रावती की चर्चा संन्यासी से सुन कर मेघसिंह को अत्यन्त कौतूहल हुआ। उन्होंने उत्सुकता के साथ पूछा—"यह चन्द्रा कौन है ?" संन्यासी ने उपेक्षा के साथ कहा—"दीयागढ़-नरेश वीरसिंह की बड़ी लड़की। वह राजभवन से ही उड़ा ली गई है।"

डाली—परन्तु भानुपुर में बैठे हुए आपने यह सब कैसे जान लिया ?

संन्यासी—चतुरसिंह अय्यार मेरे मित्र हैं डाली !

चतुरसिंह का नाम सुन कर मेघसिंह चौंक पड़े। शीघ्र ही स्वाभाविक मुद्रा धारण करते हुए बोले—"परन्तु ये चतुरसिंह चन्द्रा के कौन हैं ?" संन्यासी ने अज्ञान में मुँह से निकली बात को छिपाते हुए कहा—"कुछ नहीं, कोई नहीं, मैं योंही जान गया।"

मेघसिंह ने देखा, संन्यासी बात उड़ा देना चाहता है। उन्होंने रमणी-हठ के साथ कहा—नहीं, आपको बताना ही पड़ेगा।

संन्यासी ने ऊबते हुए कहा—मैं जानता हूँ, तुम न

मानोगी। परन्तु देखो, कोई और न जानने पावे। चतुरसिंह महाराज कर्मागढ़ के अय्यार हैं। वे स्वयं चन्द्राहरण के नायक थे। महाराज चन्द्रा पर आसक्त हैं। चतुरसिंह ने लौटते हुए एक रात मेरे आश्रम पर व्यतीत की थी। तुम्हें स्मरण नहीं है ? तुम उस दिन रात को जब मेरे आश्रम पर आई थीं, तब एक युवक मेरे पास बैठा था। उसने तुम्हारे विषय में मुझसे पूछा। मैंने कहा था—यह अनाथ बच्ची है। मैंने ही इसका पालन किया है। इसके और कोई नहीं है।

डाली—ठीक-ठीक, अब स्मरण हो आया।

संन्यासी—डाली ! वह युवक चतुरसिंह ही थे।

मेघसिंह को अनायास ही समस्त रहस्य जान कर अकथनीय आनन्द हुआ। परन्तु उसे दबाते हुए उन्होंने कहा—"ख़ैर, इन बातों से मुझे क्या करना। अब आप मुझे सुवर्ण-रहस्य बताएँगे या नहीं ?" संन्यासी ने खिन्न होकर कहा—"देखो इस समय मुझे दुःख न दो। मैं अब सीधा कर्मागढ़ जाऊँगा ; क्योंकि दुष्ट मेघसिंह खोजता हुआ वहाँ कभी न कभी पहुँचेगा ही। मैं चतुरसिंह की सहायता से अपनी पुस्तक हस्तगत करने का प्रयत्न करूँगा। क्योंकि मुझे स्वयं मेघसिंह के सामने खड़े होने का भी साहस नहीं होता।" मेघसिंह ने देखा, संन्यासी बखेड़ा किए बिना न मानेगा। उन्होंने कुछ मिठाइयाँ बटुए से निकाल कर उसकी

ओर बढ़ाते हुए कहा—"अच्छा कम से कम मेरे हाथ से यह जलपान तो कर लीजिए।" संन्यासी तीव्र क्षुधा के कारण सारी मिठाइयाँ उड़ा गया। मिठाइयों ने उसे हलकी थपथपी देकर सुला दिया।

इसके बाद तीव्र वेग के साथ मेघसिंह कर्मागढ़ की ओर अग्रसर हुए। इन्दु के उद्धार की आशा से उनका हृदय उत्साहित हो रहा था।

तीसरे दिन सन्ध्या के समय कर्मागढ़ पहुँच कर चिन्तन करने लगे कि इन्दु तक पहुँचना सहज नहीं है। उसे बड़ी सावधानी के साथ कड़े पहरे में रक्खा गया होगा। अकस्मात् उन्हें स्मरण हो आया कि चतुरसिंह ने डाली को एक-दो बार देखा है। संन्यासी के वे घनिष्ट मित्र भी हैं। देखूँ वे डाली को पहचानते हैं या नहीं। डाली-रूप में ही उनके पास पहुँचना उचित होगा।

अँधेरा हो चला था। चतुरसिंह अपनी बैठक में बैठे हुए कुछ आवश्यक पत्र लिख रहे थे। अकस्मात् किसी रमणी-कण्ठ से उन्होंने सुना—"चतुरसिंह जी आपका ही नाम है ?" चतुरसिंह ने सिर उठा कर दीपक के प्रकाश में देखा, भानुपुर वाली डाली खड़ी है। उन्होंने आश्चर्यपूर्वक कहा—"डाली ! तुम यहाँ कैसे ?"

डाली—"भैया, मेरे बाबा जी उस दिन से न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गए हैं। वे आपके मित्र हैं। मैंने विचार

किया, शायद यहाँ आए हों। आज सात दिन की चली उन्हें खोजती यहाँ तक आ पहुँची हूँ। आपकी शरण में आई हूँ, यदि आप बाबा जी का कुछ समाचार जानते हों तो बता दीजिए। मुझे वे बच्ची की भाँति चाहते थे।" चतुरसिंह ने आश्वासन दिलाते हुए कहा—"डाली, बाबा जी यहाँ तो नहीं आए, परन्तु मैं उनका पता लगाने में अवश्य तुम्हारी सहायता करूँगा। तुम चाहो तो मेरे यहाँ ठहर सकती हो।" डाली ने कृतज्ञतापूर्वक उनका प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया।

चतुरसिंह—"मेरे सहचर अय्यार हरिसिंह अभी आते होंगे। मैं उनसे परामर्श करके तुम्हारा कुछ प्रबन्ध अवश्य कर दूँगा। मेरे घर में दुर्भाग्यवश इस समय कोई नहीं है। सब लोग निमन्त्रण में चले गए हैं। मैं स्वयं तुम्हारे जलपान का प्रबन्ध करता हूँ।" कहते हुए वे भीतर चले गए। इधर मेघसिंह कमरे में न जाने क्या जला कर बाहर भाग आए। कुछ ही क्षणों के उपरान्त उन्होंने भीतर जाकर देखा, चतुरसिंह कमरे में अचेत पड़े हैं। मिठाई की तश्तरी उनके हाथ से छूट कर फूट गई है। मिठाई कमरे भर में बिखरी हुई है। विलम्ब करना उचित न जान उन्होंने चतुरसिंह की गठरी बगल वाले कमरे में डाल कर बाहर से बन्द कर लिया। नए चतुरसिंह हरिसिंह की प्रतीक्षा करने लगे। अकस्मात् उनके मन में कुछ नया विचार उत्पन्न हुआ। वे काग़ज़-

क़लम उठा कर कुछ लिखने लगे। अभी वे लिख ही रहे थे कि हरिसिंह ने बैठक में पदार्पण किया। बिना कुछ कहे हरिसिंह कुर्सी सरका कर बैठ गए। चतुरसिंह ने क़लम मेज़ पर रखते हुए गम्भीरतापूर्वक कहा—"कुमारी इन्दुमती के पास अभी चलना होगा हरिसिंह !"

हरिसिंह—अभी ?

चतुरसिंह—हाँ, मैंने उन्हें राह पर लाने के लिए एक नवीन षड्यन्त्र रचा है। देखूँ यदि चल जाय।

हरिसिंह—कैसा षड्यन्त्र ?

चतुरसिंह—"मैंने महाराज वीरसिंह के से अक्षर बना कर इन्दु के नाम एक पत्र लिखा है। यह देखो × × ×" कहते हुए उन्होंने पत्र हरिसिंह की ओर बढ़ा दिया। मेघसिंह को महाराज वीरसिंह के हस्ताक्षरों का आश्चर्यजनक अभ्यास था। वे स्वयं महाराज को भ्रम में डाल सकते थे। अवकाश पाकर उन्होंने बैठक में बैठे हुए दो पत्र लिख डाले थे। एक महाराज वीरसिंह के हस्ताक्षरों में और दूसरा अपनी साधारण शैली पर। कृत्रिम पत्र इस समय हरिसिंह के हाथ में था। परन्तु दूसरा पत्र मेघसिंह के पास गुप्त रक्खा था। हरिसिंह ने पढ़ा :—

बेटी इन्दु, आशीर्वाद !

मैं इस समय बड़ी विपत्ति में पड़ गया हूँ। यदि महाराज कर्णसिंह का प्रस्ताव स्वीकृत करके तुम उनके साथ

विवाह कर लो, तो मेरी प्राण-रक्षा हो सकती है, अन्यथा मेरे प्राण सङ्कट में हैं।

तुम्हारा पिता—

वीरसिंह

हरिसिंह वीरसिंह के हस्ताक्षरों से परिचित थे। उन्होंने चकित होकर कहा—आपने तो कमाल कर दिया है। इस बार तो इन्दु हाथ में आई समझिए।

चतुरसिंह—बस, अब अधिक विलम्ब के लिए अवसर नहीं है। शीघ्र चलना चाहिए। चतुरसिंह (मेघसिंह) हरि के पीछे-पीछे चल पड़े। इन्दु के पास पहुँचना सहज नहीं था। परन्तु चतुरसिंह को कौन रोक सकता था? वे हरिसिंह के साथ-साथ राजप्रासाद के अनेक गुप्त पथों को पार करते हुए एक विशाल भवन में जा पहुँचे। उन्होंने देखा, एक कोने में मलिन-वदना इन्दु विषाद की मूर्ति बनी पड़ी सिसक रही थी। दुर्बलता के कारण इन्दु पहचानी भी न जाती थी। चतुरसिंह को देख कर वह भय-कातरा हरिणी की भाँति उनकी ओर ताकती हुई और भी सिमट कर बैठ गई। चतुरसिंह ने हरि से कहा—"हरि! तुम बाहर चले जाओ। मैं अकेला कुमारी को समझाने का प्रयत्न करूँगा।" हरिसिंह बाहर आड़ में जाकर खड़े हो गए। चतुरसिंह ने दूसरा पत्र अपनी जेब से निकाल कर इन्दुमती के हाथ में दिया। इन्दु ने डरते-डरते उस पर दृष्टि डाली।

उसमें लिखा था—"कुमारी ! डरना नहीं, मैं मेघसिंह हूँ। तुम्हारा पता पाकर यहाँ तक आ पहुँचा हूँ। ईश्वर चाहेगा तो शीघ्र ही तुम मुक्त हो जाओगी। यदि तुमसे इस पत्र के विषय में कोई कुछ पूछे तो तुम कह देना, मैं विचार कर रही हूँ।

—तुम्हारा मेघसिंह"

कुमारी के पत्र पढ़ चुकने पर मेघसिंह ने उसे लौटा लिया। हरिसिंह को बुला कर ऊँचे स्वर में उन्होंने कहा—"मैंने महाराज वीरसिंह का पत्र कुमारी को दे दिया है। वे कहती हैं, मैं तीन-चार दिन विचार करने के उपरान्त उत्तर दूँगी। आइए हम लोग चलें।" दोनों अय्यार लौटने ही वाले थे कि महाराज कर्णसिंह बग़ल वाले कमरे से आते दिखाई दिए। चतुरसिंह को देख अलग बुला कर कर्णसिंह ने कहा—"चतुरसिंह ! आज मैंने विचार किया है कि मैं उस अमूल्य हीरे को स्वयं अपनी प्रणयिनी के कर-कमलों में समर्पित करूँगा। तुम्हारी क्या राय है ? मैंने तुम्हारी सम्मति के लिए अपना आदमी तुम्हारे घर भेजा था। परन्तु उसके लौटने में विलम्ब होते देख मैं अधीर होकर इधर चला आया। अब तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ, मैं समझता हूँ हीरा पाकर कुमारी × × ×"

चतुरसिंह बीच में ही बोल उठे—"जी हाँ महाराज ! आपका विचार बहुत ठीक है।" चतुरसिंह की अनुमति पाते

ही कर्णसिंह इन्दु के निकट जा पहुँचे। इधर मेघसिंह हरिसिंह के साथ खड़े वहाँ से शीघ्र ही निकल भागने का उपाय सोच रहे थे। अकस्मात् महाराज हीरे की लाल डिबिया लिए हुए झपट कर उनके एकदम निकट आ पहुँचे। हीरा दिखाते हुए उन्होंने भ्रमपूर्ण स्वर में कहा—"चतुरसिंह, देखो इस हीरे को क्या हो गया है। इसकी कान्ति क्या हुई। अभी-अभी इसकी जगमगाहट के सामने किसी की आँख न टिकती थी। परन्तु ज्यों ही मैंने हीरा कुमारी की ओर बढ़ाया, त्योंही शनैः-शनैः बुझते हुए दीपक की भाँति हीरा कान्तिहीन हो गया। मेरे देखते ही देखते, चतुरसिंह यह बात क्या है ? मेरा हृदय भय से काँप रहा है। आखिर इसकी जगमगाहट किसने खींच ली ? यह कैसा जादू है चतुरसिंह ?"

मेघसिंह चकित होकर हीरे की ओर देखने लगे। उन्हें समझते देर न लगी कि वह बहादुरसिंह वाला हीरा है। आज उसको बनाए सात दिन हो चुके थे। अब वह मिश्री की डली रह गई थी। निश्चय करने के लिए उन्होंने उसे जीभ से लगाया। एकदम मिश्री ! मेघसिंह के आश्चर्य की सीमा न रही, यह हीरा यहाँ कैसे आया ? परन्तु वे पूछते कैसे। अभी सब लोग हीरे की ओर आश्चर्यचकित होकर देख ही रहे थे कि दूसरे चतुरसिंह और हरिसिंह परस्पर बातें करते हुए महाराज के दूत के साथ आ पहुँचे। उन्होंने

दूर से ही चिल्ला कर कहा—"महाराज शत्रु के अय्यारों से घिरे हुए हैं। इन नक़ली चतुरसिंह और हरिसिंह को एकदम पकड़ लो।" मेघसिंह और हरिसिंह सहम उठे। कर्णसिंह भयभीत होकर चारों को देखने लगे। चतुरसिंह ने दोनों को स्तम्भित देख स्वयं आगे बढ़ कर मेघसिंह और हरिसिंह के हाथ बाँध लिए। दूत को गर्म पानी लाने का आदेश देकर उन्होंने कहा—"महाराज, अभी इन धूर्त अय्यारों का रहस्य प्रकट हुआ जाता है।" सन्ध्या वाली घटना का पूर्ण विवरण कहते हुए वे बोले—"आपका दूत जब मेरे मकान पर गया, उस समय मैं अपनी कोठरी में बन्द पड़ा चिल्ला रहा था। आपके दूत ने साँकल खोल कर मुझे बाहर निकाला। मैं समझ गया कि किसी अय्यार की करतूत है। वह अवश्य कोई न कोई गोलमाल खड़ा करेगा। मैं राजप्रासाद की ओर आ ही रहा था कि रास्ते में हरिसिंह भी आते दिखाई दिए। यह दोनों अय्यार नक़ली हैं। अभी सारा भेद प्रकट हुआ जा रहा है।" चतुरसिंह यह कह ही रहे थे कि नौकर पानी लेकर आ पहुँचा। मेघसिंह की कलई खुल गई। उन्होंने देखा, थोड़ी सी असावधानी ने सारा खेल चौपट कर दिया। घबराए हुए वे चतुरसिंह की ओर ताकने लगे।

सातवाँ परिच्छेद

ठक चञ्चल नवलसिंह को न भूले होंगे। नवलसिंह बार-बार 'सुवर्ण-रहस्य' को उलट-पुलट कर देखते थे। परन्तु उन्हें सन्तोष न होता था। वे फिर उसे उलटने लगते थे। उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था कि लोहे तथा ताँबे के टुकड़ों से सोना कैसे बन जाता है। पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में ही 'सुवर्ण-रचना-सिद्धान्त' समझाया गया था। लेखक का कहना था कि धातुओं के कल्पनातीत सूक्ष्म अणुओं में भी सूक्ष्मतर परमाणु होते हैं। वे परमाणु अत्यन्त प्रबल वेग के साथ अविराम गति से चक्कर लगाते रहते हैं। वस्तुतः स्थूल दिखाई देने वाले धातु के टुकड़ों के सूक्ष्मतम परमाणुओं में निरन्तर आन्दोलन होता रहता है। रासायनिक ढङ्ग से इन परमाणुओं की गति तथा संख्या में परिवर्तन उपस्थित कर देने से एक धातु दूसरी धातु का रूप ग्रहण कर सकती

है। नवलसिंह को आश्चर्य हो रहा था कि यह परमाणु कैसे चक्कर काटते रहते हैं। पुस्तक में लिखा था कि—"जिस प्रकार सूर्य-मण्डल के चारों ओर अनेक ग्रह-उपग्रह अपनी-अपनी निश्चित गति के साथ भ्रमण करते रह कर सौर-जगत की रचना करते हैं, उसी प्रकार एक परमाणु-विशेष के चारों ओर अन्य अनेक परमाणु निश्चित गति के साथ घूमते हुए अणु का रूप निर्धारित करते हैं। और जिस प्रकार सौर-जगत के ग्रह-उपग्रहों की गति में परिवर्तन होते ही प्रलय उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार परमाणुओं की गति में परिवर्तन होते ही अणु में क्रान्ति का दृश्य उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार अणुओं के परिवर्तन द्वारा एक धातु दूसरी धातु का रूप ग्रहण करती है। इन परमाणुओं की संख्या तथा गति के वशीभूत करते ही विश्व के समस्त पदार्थ मनुष्य के अधिकार में आ जाते हैं। विज्ञान की शक्ति महान् है। इस पुस्तक में जटिल सूत्रों द्वारा संक्षेपतः समस्त भौतिक तथा रासायनिक क्रियाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। इन गूढ़ वैज्ञानिक तत्त्वों तक पहुँचने के लिए विश्व के विज्ञानवेत्ताओं को वर्षों अध्यवसाय करना पड़ेगा।" नवलसिंह जैसे-जैसे पुस्तक को पढ़ते जाते थे, वैसे-वैसे आश्चर्य-सागर में डूबते जाते थे। सुवर्ण-रहस्य के क्रियात्मक अंश को वे अभी समझ न पाए थे। उन्हें कुमारी इन्दु का उतना अधिक ध्यान न था, जितना

सुवर्ण-रहस्य का। अपनी धुन में भूले हुए न जाने किन-किन वन-पर्वतों, नदी-नालों तथा ग्राम-नगरों का अतिक्रमण करते हुए वे एक समृद्धिशाली नगर के निकट जा पहुँचे। नगर की उच्च अट्टालिकाएँ एक दूसरे से होड़ करती हुई आकाश से भिड़ी जा रही थीं। दिन ढल चुका था। नवलसिंह की शक्ति भी ढल चुकी थी। सुवर्ण-रहस्य का मनन करते हुए वे वीरपुर के ज़मींदार ठाकुर जङ्गबहादुर की ड्योढ़ी पर जा पहुँचे। ठाकुर साहब के अश्वारोहण-प्रेम की चर्चा नवलसिंह नगर के बाहर ही सुन चुके थे। उन्होंने विचार किया कि वीरपुर बड़ा नगर है। यहाँ पर दो-एक दिन टिक कर कुमारी इन्दु का पता लेना कुछ अनुचित न होगा। यदि इन्दु इधर कहीं लाई गई होगी, तो सम्भव है ठाकुर साहब की बैठक में कुछ समाचार मिल सके। क्योंकि बड़े आदमियों के यहाँ सभी प्रकार की चर्चा होती रहती है। द्वार पर पहुँच कर उन्होंने ठाकुर महोदय के पास सम्वाद भिजवाया—"एक बहुत चतुर अश्वारोही आया है।" नवलसिंह दूसरे ही क्षण ठाकुर साहब के समक्ष बुलाए गए। ठाकुर जङ्गबहादुर तकिए के सहारे लेटे हुए थे। उनका शरीर भरा हुआ था। मूँछें ऊपर को तनी हुई मानो घोषणा कर रही थीं कि "हमें किसी की परवा नहीं है।" ठाकुर साहब की बड़ी कन्या सरोजिनी कुर्सी पर बैठी उन्हें 'विरागिनी' नामक उपन्यास पढ़ कर सुना रही थी।

उपन्यास का नायक हाथ में नङ्गी तलवार लिए अपने प्रतिद्वन्द्वी का सिर काटने के लिए आगे बढ़ा ही था कि ठाकुर साहब ने रोक कर कहा—"सरोजिन ! ज़रा ठहर जा !" नवलसिंह की ओर देखते हुए उन्होंने हुक्के की निगाली मुँह से अलग सरका कर नाक की राह धुआँ निकालते हुए कहा—"तो आप घोड़ों को क़ाबू कर सकते हैं ?" नवलसिंह ने मुसकराते हुए कहा—"कट्टर से कट्टर घोड़े को भी क़ाबू कर सकता हूँ सरकार !" नवलसिंह के शरीर की चुस्ती तथा गठन देख कर ठाकुर साहब को सन्देह न रहा। उन्होंने कहा—"अच्छा प्रातःकाल ही तुम्हारी परीक्षा होगी।" नवलसिंह ने देखा, सरोजिनी इतनी देर तक सतृष्ण नयनों से टकटकी लगाए उनके तेजस्वी मुख-मण्डल की ओर निहार रही थी। सरोजिनी से उनकी चार आँखें हुईं। लज्जा के कारण नवल की आँखें झँप गईं। परन्तु सरोजिनी आँख चुरा कर उनकी ओर ताकती ही रही। ठाकुर साहब का आदेश पाकर नवलसिंह कमरे से बाहर चले गए। सरोजिनी फिर उपन्यास पढ़ने लगी। परन्तु उसका स्वर भङ्ग हो गया था। उसके कण्ठ में कम्पन होने लगा था। कुछ पंक्तियाँ पढ़ने के उपरान्त ही वह भी नींद का बहाना करके चली गई।

प्रातःकाल एक बहुत भड़कीला घोड़ा नवलसिंह को दिया गया। परन्तु नवलसिंह अपनी अश्वारोहण-चातुरी

के कारण शीघ्र ही उसे वश में करके वन की ओर भगा ले चले। मार्ग में वह सरोजिनी के मुख-सरोज की कल्पना करते नहीं अघाते थे। आह! उस भोली लड़की की झँपी हुई चितवन में कैसी मादकता थी। उसके अर्द्ध-उन्मीलित नयन कोरों से झाँक-झाँक कर हृदय को कुरेदे लेते थे। घोड़ा बहुत दूर निकल चुका था। वे उसे लेकर लौटने लगे। अकस्मात् एक मालिन हाथ में फूलों का एक सजा हुआ गुलदस्ता लिए आती दिखाई दी। उन्होंने घोड़े की गति मन्द कर दी। देखते ही देखते मालिन ने उनके निकट आकर गुलदस्ता उनकी ओर बढ़ा दिया। नवलसिंह ने दाहिना हाथ फैला कर गुलदस्ता ले लिया। वे मालिन से कुछ कहना ही चाहते थे कि मालिन मुसकराती हुई भाग गई। नवलसिंह आश्चर्य के साथ गुलदस्ते की ओर देखने लगे। यह मालिन कौन थी? सहसा उन्होंने देखा, गुलाब की एक पँखड़ो के नीचे बड़े यत्न से काग़ज़ का एक टुकड़ा सजाया हुआ था। कौतूहल के साथ उन्होंने झट उसे खींच लिया। मोती जैसे चुने हुए अक्षरों से उसमें लिखा था :—

"भोले परदेसी! रात पिता के सामने ही मेरी अनमोल सम्पत्ति लुट गई। क्या अबला पर अत्याचार करना पुरुषों को शोभा देता है?—'सरोजिनी'।" नीचे छोटे-छोटे अक्षरों में लिखा था—"काग़ज़ पर अपने हस्ताक्षर करके गुलदस्ते में वैसे ही सजा देना। गुलदस्ता वहीं डाल देना, मेरे पास

"× × × वे मालिन से कुछ कहना ही चाहते थे कि मालिन मुस्कराती हुई भाग गई।"—[पृष्ठ १४०]

पहुँच जायगा।—स०।" नवलसिंह के हृदय पर दूसरी चोट लगी। उनका मन चञ्चल हो उठा। परन्तु अपने मन की चपलता को बरबस दबा कर उन्होंने काग़ज़ की पीठ पर लिख दिया :—

"प्यारी सरोजिनी! अबला नाम की ही अबला है। हृदय की लूट में पुरुष उससे कहाँ बाज़ी ले सकते हैं? परन्तु सुन्दरी! कर्तव्य पूरा होने से प्रथम तो मुझे हृदय में चुभे हुए कुसुम-शरों को निर्दयतापूर्वक बीन-बीन कर बाहर फेंकना ही होगा!—परदेसी।"

पत्र को गुलदस्ते में सजा कर उन्होंने गुलदस्ता वहीं डाल दिया और घोड़े को द्रुतगति से बढ़ाते हुए वे ठाकुर साहब के द्वार पर जा पहुँचे। ठाकुर साहब अपने अनेक अन्तरङ्ग मित्रों के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनकी अश्वारोहण-कला को देख कर सभी लोग दङ्ग हो रहे थे। ठाकुर साहब ने पीठ ठोंकते हुए कहा—"धन्यवाद, नवयुवक! मेरे चतुर से चतुर अश्वारोही जिस घोड़े के निकट जाने का साहस न करते थे, उसे तुमने बिल्ली बना दिया। मैं तुम्हें अपनी अश्वशाला का मुख्य कर्मचारी नियुक्त करता हूँ।" नवल ने कृतज्ञता से सिर झुका दिया।

ठाकुर साहब ने अश्वारोहण-प्रेम के कारण अपनी कन्याओं को भी अश्वारोहण-कला की शिक्षा दी थी। सरोजिनी भी अश्वारोहण में दक्ष थी। दूसरे दिन प्रातः-

काल ठाकुर ने नवलसिंह को बुला कर अभिमानपूर्वक कहा—"नवलसिंह ! मेरी कन्या सरोजिनी का हठ है कि वह आज तुमसे अश्वारोहण-कला में टक्कर लेगी। नवलसिंह, उसे निरी बालिका न समझना। उसने बड़े-बड़े अश्वारोहियों के छक्के छुड़ा दिए हैं।" सरोजिनी को पुकारते हुए उन्होंने कहा—"सरोजिन ! देख नवलसिंह आ गए हैं। तू रात बहुत कहती थी।" लजीली सरोजिनी चुस्त पोशाक पहने हुए बाहर आई ! उसने कहा—"पिता ! मैं भी देखती हूँ, आपके नए अश्वारोही की चातुरी।" द्वार पर दो सुडौल अश्व पहले ही से बँधे थे। सरोजिनी दृष्टि नीचे गड़ाए उचक कर एक पर जा बैठी। उसे नवलसिंह से दृष्टि मिलाने का साहस न होता था। उसने रात बड़ी चतुराई से पिता को इस प्रतिद्वन्द्विता के लिए उद्यत किया था। नवलसिंह सरोजिनी की सारी बुद्धिमत्ता का रहस्य ताड़ गए। बिना कुछ कहे वे भी दूसरे घोड़े पर जा बैठे। दोनों चतुर अश्वारोही अश्वारोहण-कला की विशेषताओं का एक-दूसरे से बढ़-बढ़ कर प्रदर्शन करते-करते वन-प्रान्त में अदृश्य हो गए। उपयुक्त अवसर देख कर सरोजिनी ने अश्व की गति को मन्द करते हुए नमित नयनों से कहा—"तो ऐसा कौन सा कर्तव्य है, जिसे पूर्ण करने से प्रथम आप इस बालिका की ओर आँख उठा कर नहीं देखना चाहते ?" कुछ देर तक मौन रहने के उपरान्त नवलसिंह ने कहा—"सरोजिनी ! तुमसे अब छिपाव क्या ?

मैं दीयागढ़ राजकुमारी इन्दु की खोज × × ×" सरोजिनी ने उतावली के साथ बीच में ही टोंक कर कहा—"कौन, इन्दुमती ?" नवल ने उत्साहपूर्वक कहा—"हाँ-हाँ ! वही, क्या तुम उन्हें जानती हो ?" सरोजिनी ने हर्ष के साथ ताली बजाते हुए कहा—"और यदि मैं तुम्हें उनका पता दे दूँ ?"

नवलसिंह—तो सुन्दरी यह दास तुम्हारा है। परन्तु कुमारी के उद्धार के उपरान्त।

सरोजिनी—अच्छा, तो सुनो, कुमारी इस समय कर्मागढ़ के कारागार में है।

नवल ने आश्चर्य से कहा—परन्तु तुमने यह सब कैसे जाना ?

सरोजिनी ने रहस्यभरी चितवन के साथ नवल की ओर देखते हुए कहा—"अहा ! विधाता कभी-कभी घटनाओं का क्रम कैसे विचित्र ढङ्ग से सजाता है। परदेसी, महाराज कर्णसिंह के मुख्य अय्यार चतुरसिंह मेरे मामा हैं। मेरी बड़ी चचेरी बहिन के विवाह में मेरी माँईं तथा मामा के अन्य परिजन यहीं आए हुए हैं। राज-कार्य के भार से मामा नहीं आए। उस दिन रात के समय मेरी छोटी बहिन तारा माँईं से हठपूर्वक बोली—'माँईं कोई कहानी कहो।' माँईं उसका जी बहलाने के लिए इन्दु की कथा कहने लगी। कथा की रोचकता ने मेरा ध्यान भी आकृष्ट कर लिया। मैं भी सुनती रही। मुझे याद है, अन्त में माँईं ने

मेरी ओर देख कर कहा था—'सरोजिन ! इसे निरी कहानी न समझना। यह सच्ची घटना है। इन्दु इस समय भी कर्मा-गढ़ के कारागार में है।' मैंने कहा—'होगी।' मुझे नींद आ रही थी। मैं सो गई।" नवल ने हर्षोल्लास के साथ कहा—"तो सरोजिनी ! मुझे आज्ञा दो। मैं आज ही जाऊँगा।"

सरोजिनी—परन्तु मुझे वीरपुर छोड़ने से प्रथम न जाने पाओगे।

नवलसिंह—बहुत अच्छा। दोनों अश्वारोही तीव्र गति से वीरपुर की ओर लौटने लगे। दोनों बार-बार दृष्टि चुरा कर एक दूसरे को ओर देखते जाते थे। चलते ही चलते सहसा दोनों की दृष्टि परस्पर भिड़ कर अठखेलियाँ करने लगीं। दोनों के शरीर काँप उठे। अनायास ही दोनों के अश्व एकदम निकट आ गए। नवल के होंठ पत्ते की तरह काँप रहे थे। अश्व की गति मन्द किए बिना ही नवलसिंह ने अधर-सुधा-तृषित होठों से सरोजिनी के होंठ चूम लिए। सरोजिनी को इतनी देर बाद चेतना हुई। वह न जाने किस आकर्षण के बल से नवलसिंह की ओर खिंची चली गई थी। नशा उतरते ही उसने अपना घोड़ा दूर कर लिया। वीरपुर भी निकट आ गया था। दोनों अश्वारोही देखते ही देखते ठाकुर के निकट आ पहुँचे।

नवलसिंह ने सन्तोषपूर्वक कहा—"सचमुच सरोजिनी देवी को अश्व-कला में आश्चर्यजनक दक्षता प्राप्त है।"

सरोजिनी लजा कर भीतर भाग गई। नवलसिंह बिना किसी से कुछ कहे ही उसी रात को चुपचाप कर्मागढ़ की ओर चल दिए। उन्हें विश्वास होने लगा कि वे कुमारी का उद्धार करके अपने अन्य साथियों को नीचा दिखाएँगे। दूसरे दिन कहीं वे कर्मागढ़ पहुँच सके। परन्तु कर्मागढ़ पहुँच कर उन्हें निराशा होने लगी। चतुरसिंह ऐसे चतुर अय्यार की आँख में धूल झोंक कर कुमारी के पास तक पहुँच जाना सहज नहीं था। अभी सूर्यास्त नहीं हुआ था। नवलसिंह कर्मागढ़ नगर के बाहर पूरब वाले मन्दिर पर बैठे कुछ चिन्तन में व्यस्त थे। उन्हें कार्य-सिद्धि की कोई राह न सूझती थी। सहसा उन्हें नगर की ओर से हरिसिंह आते दिखाई दिए। नवलसिंह की हरि से अनेक बार मुठभेड़ हुई थी। हरिसिंह का मकान दीयागढ़ में था। वे अपने नाना के यहाँ प्रायः आते-जाते रहते थे। नवलसिंह भली-भाँति जानते थे कि हरिसिंह शङ्कर जी का पक्का भक्त है। वह झट ताड़ गए कि वह भगवान के दर्शनों के लिए ही उस निर्जन एकान्त मन्दिर की ओर आ रहा है। दीयागढ़ में भी हरि शङ्कर जी के दर्शनों के लिए नियमपूर्वक जाया करता था। उन्होंने मन्दिर के पीछे जाकर झटपट संन्यासी का वेश धारण किया। दर्शनों के उपरान्त जब वे लौटने लगे तो उन्होंने जगत की दाहिनी ओर एक वयोवृद्ध संन्यासी को बैठे देखा। भक्तिपूर्वक उन्होंने संन्यासी को प्रणाम किया।

संन्यासी ने आशीर्वाद देकर उन्हें निकट बुलाया। हरिसिंह की ओर दो सुन्दर फूल बढ़ाते हुए संन्यासी ने कहा—"बेटा, लो यह भगवान शङ्कर का प्रसाद है।" हरिसिंह ने भक्तिपूर्वक फूलों को माथे से लगा कर सूँघा। अन्तिम प्रणाम करके वे लौटने ही वाले थे कि उनका मस्तक घूमने लगा। वे अचेत होकर गिर पड़े। नवलसिंह ने उनकी जेब में हाथ डाल कर देखा, एक सुनहली किताब और पेन्सिल पड़ी थी। कौतूहल के साथ उसे निकाल कर उन्होंने अपने अधिकार में किया। हरिसिंह को समेट कर निकट वाली फूलों की झाड़ी में डाल स्वयं हरिसिंह का रूप धारण किए हुए वे जगत पर कुछ निश्चिन्त बैठ कर किताब उलटने-पुलटने लगे। अकस्मात् उनकी दृष्टि पुस्तक के ३१वें पन्ने पर पड़ी। पन्ने पर पेन्सिल से कुछ मानचित्र जैसा बना था। उसके नीचे लिखा था 'इन्दुभवन का पथ।' नवलसिंह परिवर्द्धित कौतूहल के साथ उसे देखने लगे। राजप्रासाद के सिंहद्वार से लेकर इन्दु के कारागार तक का मार्ग अत्यन्त स्पष्ट रेखाओं द्वारा बनाया गया था। वे बड़ी देर तक मानचित्र का अध्ययन करते रहे। अभी चित्र की ओर देख ही रहे थे कि किसी ने कहा—"चतुरसिंह जी ने आपको अभी याद किया है।" चौंक कर नवलसिंह ने मस्तक ऊपर उठाया। चतुरसिंह के दूत ने फिर कहा—"जल्दी चलिए, वे आपकी प्रतीक्षा

कर रहे हैं।" नवलसिंह बिना कुछ कहे नौकर के साथ चल दिए।

चतुरसिंह बैठक में बैठे हुए दीपक के प्रकाश में कुछ लिख रहे थे। हरिसिंह कुर्सी सरका कर उनके निकट बैठ गए। अकस्मात् चतुरसिंह ने सिर उठा कर कहा—"कुमारी इन्दुमती के पास अभी चलना होगा हरि।"

हरिसिंह—अभी ?

चतुरसिंह—हाँ, मैंने उन्हें राह पर लाने के लिए एक नवीन षड़यन्त्र रचा है।

पाठक समझ गए होंगे कि नकली चतुरसिंह के साथ जो हरिसिंह गए थे, वे स्वयं नकली थे। परन्तु ३१वें पृष्ठ वाले मानचित्र के सहारे उन्हें इन्दु-भवन तक पहुँचने में कठिनाई न हुई। दोनों अय्यार मित्र होकर भी एक दूसरे की आँख में धूल झोंकने का प्रयत्न कर रहे थे। क्योंकि दुर्भाग्यवश एक दूसरे के वास्तविक रूप को कोई न पहचानता था!

पाठकों को स्मरण होगा, मेघसिंह का भेद प्रकट होने पर सभी लोग आश्चर्य तथा शङ्का से भरे इन्दु के बग़ल वाले कमरे में खड़े थे। हमारे नवलसिंह के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे विचारने लगे—यह मेघसिंह यहाँ कैसे आ फँसा ? ओह! यदि तनिक भी पता चल जाता कि यह मेघसिंह है, तो आज कुमारी के उद्धार में सन्देह न था।

परन्तु विधाता को तो दूसरा ही गुल खिलाना था, उन्हें अब अपनी ही चिन्ता होने लगी। मेघ के बाद नवल की बारी आई। नवलसिंह का हृदय काँप उठा। जिस बात की उन्हें शङ्का थी, वही सामने आई। परन्तु अब वे कर ही क्या सकते थे। उनका चेहरा भी धो डाला गया। नवलसिंह और मेघसिंह आश्चर्यचकित होकर एक दूसरे की ओर देखने लगे। सहसा नवलसिंह अपनी स्वाभाविक चपलता के कारण ठठा कर हँस पड़े। दोनों ने इस दिल्लगी को गुप्त रखना ही उचित समझा। चतुरसिंह ने रोषावेष में दोनों के हाथ बाँध कर विक्रमसिंह की वर्तमान निवास-स्थली के द्वार तक स्वयं पहुँचा आए।

× × ×

बहादुरसिंह की चातुरी का भरोसा किए तीनों किसी प्रकार समय बिताने लगे। तीन दिन तक कोई विशेष घटना नहीं हुई। तीनों अय्यारों ने चिन्तापूर्वक कुछ घटा-बढ़ा कर अपनी-अपनी बीती कथा कह सुनाई। मेघ ने संन्यासी वाली कथा बिलकुल छिपा ली। परन्तु नवलसिंह की हँसी न रुकती थी। वे बार-बार मेघसिंह से कहते थे—क्यों मेघ, तुमने मुझे इन्दु के कमरे से निकाल क्यों दिया था ?

मेघसिंह झुँझला कर कहते—"और तुम निकल क्यों गए थे ?" नवलसिंह के पेट में हँसते-हँसते बल पड़ जाते

थे। विक्रमसिंह उन्हें डाट कर कहते—"नवल, इस विपत्ति में भी तुम्हारी हँसी नहीं रुकती !"

अकस्मात् चौथे दिन चतुरसिंह आकर मेघसिंह की तलाशी लेने लगे। परन्तु उन्हें कोई विशेष उल्लेख योग्य सामग्री उपलब्ध न हुई। रोष में आकर वे नवल की जेब टटोलने लगे। एक रूमाल में लपेटी हुई दो पुस्तकें पड़ी थीं—'सुवर्ण-रहस्य' और हरिसिंह की नोटबुक। चतुरसिंह उन पुस्तकों को लेकर रोष के साथ नवलसिंह की ओर घूरते हुए कारागार के बाहर जाने लगे। तीनों बन्दियों के हाथ बँधे हुए थे। नवलसिंह का तो सुवर्ण-रहस्य के साथ मानो हृदय ही चला गया। उन्होंने ऊँचे स्वर में कहा—"चतुर-सिंह ! अय्यारों की तलाशी लेना कहाँ का न्याय है ? ईमानदारी से खेलो। जीत और हार तो लगी ही रहेगी।" चतुरसिंह "चुप रह पाजी" कहते हुए अदृश्य हो गए। मेघसिंह ताड़ गए कि स्वर्णकार संन्यासी पहुँच गया है। हो न हो, उसी ने अपनी पुस्तक को हस्तगत करने का यह घृणित उपाय किया है।

नवलसिंह की हँसी न जाने कहाँ चली गई। वे विचारने लगे—हाय ! न जाने किन-किन प्रयत्नों से वह अमूल्य पुस्तक मिली थी। अभी उसे समझ भी न पाया था कि वह हाथ से निकल गई।

———

आठवाँ परिच्छेद

सघन वनों से लदी पर्वत की उस सँकरी घाटी में मनुष्य तो क्या पवन की भी सहज में पहुँच न हो सकती थी। वृक्षों की शाखाएँ एक-दूसरे से लिपटी हुई घना जाल सा बिछाए मार्ग का अवरोध कर रही थीं। परन्तु बहादुरसिंह किसी प्रकार उनको ठेलते-ठालते पर्वत को नाँघ जाने का अथक अभ्यास कर रहे थे। कभी-कभी खीझ कर पतली-पतली टहनियों को निर्दयतापूर्वक नोचने लगते थे। परन्तु स्वयं उन्हें ही अपने इस हास्यास्पद व्यापार पर हँसी आ जाती थी। कई दिनों की थकावट के कारण उनका शरीर कृश तथा कान्तिहीन हो गया था, उनके मुख पर चिन्ता और निराशा का साम्राज्य था। राजकुमारी इन्दु का पता उन्हें कौन बतावे ? वृक्षों में लिपटी हुई लताओं में तो बोलने की शक्ति थी ही नहीं। वहाँ इन जड़ कहे जाने

वाले मूक प्राणियों के अतिरिक्त और था ही कौन ? बहादुरसिंह को चिन्ता होने लगी। आज तीन दिन से इस वन-प्रदेश में भटक रहा हूँ, परन्तु द्रौपदी के चीर को भाँति यह तो अनन्त हो गया है। प्रतिक्षण बहादुरसिंह की चिन्ता बढ़ती ही जाती थी। सहसा उन्हें सघन वृक्षों की झुरमुट में लता-मालाओं से मण्डित एक श्वेत भवन दिखाई दिया। इस निर्जन वन में मानव-निवास को देख कर उनका हृदय आशा से लहलहा उठा। वे लपके हुए उसी की ओर बढ़े। मन्द-मन्द झूलती हुई लताओं के कारण सङ्गमर्मर के समान श्वेत उस भव्य भवन की दीवारों पर चञ्चल छाया और प्रकाश के अनोखे मेल से नए-नए चित्र बनते और बिगड़ते थे। देखते ही देखते बहादुरसिंह उस एकान्त भवन के निकट आए। चारों ओर निस्तब्धता थी। वे चकित होकर इधर-उधर निहारने लगे। अकस्मात् खिड़की के झरोखों से झाँकती हुई एक बाला ने पतले स्वर में कहा—"आप कौन हैं ? यहाँ क्या देख रहे हैं ?" बहादुर चौंक पड़े। उनकी दृष्टि उस दुःखकातरा बाला पर पड़ी। उन्होंने चकित नयनों से उसकी ओर देखते हुए कहा—"मैं परदेसी हूँ बाला ! वन में पथ-भ्रष्ट होकर इधर आ निकला हूँ। यह किसका घर है ?" बालिका ने सङ्केत से उन्हें अपनी ओर बुलाया। बहादुर खिड़की के निकट जा खड़े हुए। बालिका ने धीमे स्वर में कहा—"पथिक !

यह भयानक डाकुओं का डेरा है। मैं भानुपुर के रहने वाले एक सोनार की पुत्रबधू हूँ। मेरा नाम डाली है, मेरे पिता मील्लूगढ़ में केलो नदी के तट पर स्थित एक छोटे से गाँव में रहते हैं। मेरा विवाह अभी हाल में ही भानुपुर में हुआ था। वहाँ मैं एक दुष्ट संन्यासी के फेर में पड़ गई। प्रतिदिन रात के समय मैं उसके आश्रम पर जाया करती थी। उस दिन संन्यासी अकस्मात् न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया। आश्रम के आसपास मैं उसे खोजती फिर रही थी कि इन डाकुओं से मेरा सामना हो गया। मुझे उठा कर वे लोग यहाँ ले आए। मैं परसों ही यहाँ लाई गई हूँ। पथिक, क्या तुम मेरी रक्षा कर सकोगे? इस समय सारे डाकू लूट-मार के लिए बाहर गए हैं। मेरा अनुमान है कि सन्ध्या से पहले ही वे लौट आवेंगे।" बालिका बहादुरसिंह के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। बहादुरसिंह को सन्देह होने लगा, कहीं यही डाकू इन्दु को भी तो नहीं चुरा लाए? शायद इस बालिका ने यहाँ रहने के कारण कुछ सुना हो। बालिका की बात का उत्तर दिए बिना ही उन्होंने पूछा—"भला इन दो दिनों में तुमने यहाँ इन्दुमती का नाम तो किसी के मुँह से नहीं सुना?"

बालिका ने गहरी चिन्ता के साथ कहा—"यहाँ तो नहीं, परन्तु मुझे ऐसा स्मरण आता है कि मैंने कहीं यह नाम सुना अवश्य है।" बालिका चुप होकर कुछ सोचने लगी।

बड़ी देर बाद उसे सहसा कुछ स्मरण हो आया। उसने अधीर होकर कहा—"हाँ-हाँ ठीक। अब याद आ गया। एक रात को उसी संन्यासी के आश्रम में दो नवयुवक ठहरे थे। मैं जब सदा की भाँति संन्यासी के निकट गई तो तीनों परस्पर कुछ धीरे-धीरे बातचीत कर रहे थे। मैं बड़ी देर तक वहाँ संन्यासी के दोनों अतिथियों की शुश्रूषा करती रही। उनकी बातों की ओर मेरा तनिक भी ध्यान न था। परन्तु मुझे ठीक स्मरण है, उनकी बातचीत में 'इन्दुमती और चन्द्रावती' ये दोनों नाम कई बार आए थे।"

बहादुरसिंह ने कौतूहल के साथ कहा—वे कैसे अतिथि थे डाली ? उनका नाम तुम जानती हो ?

डाली ने फिर चिन्तन करते हुए कहा—संन्यासी ने उनका नाम तो बताया था, पर भूल रही हूँ, देखिए शायद चतुरसिंह या ऐसा ही कुछ बताया था।

बहादुरसिंह भली-भाँति जानते थे कि चतुरसिंह कर्मा-गढ़ के मुख्य अय्यार हैं। उन्हें समझते देर न लगी कि हो न हो कर्णसिंह ने ही महाराज वीरसिंह से अपनी शत्रुता का प्रतिशोध लेने के लिए इन्दु-हरण द्वारा उनका अपमान किया है ! परिवर्द्धित कौतूहल के साथ उन्होंने पूछा—अतिथियों के पास और भी कुछ तुमने देखा डाली ?

डाली—"और तो कुछ नहीं। हाँ, एक बड़ी गठरी थी, जिसमें शायद भूसा भरा था।" बहादुरसिंह को अब

पूर्ण निश्चय हो गया। परन्तु कर्मागढ़ यहाँ से बहुत दूर था। वे बिलकुल उलटी दिशा की ओर बढ़ आए थे। वे चिन्ता में पड़े ही थे कि वृक्षों की झुरमुट में उन्हें दूर कुछ अश्वारोही आते दिखाई दिए। डाली के मुँह से हलकी सी चीख निकल गई—"डाकू !"

बहादुर अन्य उपाय न देख लता-मण्डप के नीचे छिप कर बैठ गए। तथा बैठे ही बैठे पिचकारियों के द्वारा वे लता-पल्लवों में कुछ रङ्गीन सा पानी छिड़कने लगे। इस बीच अपनी नाक पर वे औषधि-सिञ्चित एक सुगन्धित रूमाल लगाए हुए थे। मन्द-मन्द हवा बह रही थी। उनके रङ्गीन पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदों ने पवन में न जाने कौन सी मादकता भर दी कि काल के समान कराल वे सारे डाकू क्रमशः लता-द्वार पर उन्मत्त की भाँति झूमते हुए ढेर हो गए। डाली अपनी रमणी-सुलभ करुणा के कारण बहादुर-सिंह की अनिष्ट शङ्का से बेंत की तरह काँप रही थी। परन्तु इस अद्भुत व्यापार को देख कर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। बहादुरसिंह ने लता-मण्डप के बीच से निकल कर मुसकराते हुए कहा—डाली! डरो मत। यह सब मेरी दवा का प्रभाव है। तुम जानती हो, और कितने डाकू हैं ?

डाली ने प्रकृतिस्थ होने के उपरान्त कहा—"इस अड्डे पर तो मैं सत्रह को देखा करती हूँ।" बहादुरसिंह ने गिना,

पूरे १७ थे। उन्होंने सन्तोष के साथ कहा—"अधिक भी होंगे तो कुछ चिन्ता नहीं डाली ! मेरी दवा का प्रभाव इन लताओं पर कम से कम एक महीना तक रहेगा। तुम यह रूमाल नाक पर लगा कर बाहर आ जाओ।" कहते हुए एक दूसरा रूमाल उन्होंने डाली की ओर बढ़ा दिया।

डाली ने रूमाल लेते हुए कहा—परन्तु मेरी कोठरी में ताला लगा है।

बहादुर ने पूछा—तुम सरदार को पहचानती हो ?

डाली ने एक भयङ्कर डाकू की ओर सङ्केत कर दिया।

बहादुर ने सरदार की जेब से चाभियों का एक बड़ा गुच्छा खोज निकाला। डाली को बाहर निकाल कर सारे डाकुओं को क्रमशः भीतर कर दिया और बड़ा सा ताला लगा दिया। निश्चिन्त होकर उन्होंने कहा—"डाली ! डाकुओं के भोजन की पर्याप्त सामग्री तो उस मकान में होगी ही। वे शीघ्र मरेंगे नहीं।"

डाली ने सिर हिलाते हुए कहा—कम से कम दो मास की सामग्री तो है ही।

बहादुरसिंह उचक कर एक बढ़िया घोड़े पर चढ़ गए। हाथ का सहारा देकर उन्होंने डाली को भी बिठा लिया। घोड़े को एँड़ लगा कर भानुपुर की ओर चल पड़े। रास्ते में उन्होंने डाली से पूछा—डाली ! तुम्हारे घर वाले जब पूछेंगे तब क्या कहोगी ?

डाली—मेरे घर में इन दिनों एक बुढ़िया को छोड़ कर और कोई नहीं है। घर के लोग परदेस में हैं। बुढ़िया को कुछ झूठ-सच कह कर फुसला लूँगी।

घोड़ा विद्युद्वेग के साथ भानुपुर की ओर बढ़ रहा था। सन्ध्या से पूर्व ही वे भानुपुर के निकट जा पहुँचे। डाली को एक बगीचे में उतार कर उससे बिना कुछ कहे ही उन्होंने कर्मागढ़ का रास्ता पकड़ा। वे अभी भानुपुर से कुछ ही मील आगे गए होंगे कि सहसा एक फुर्तीले बाल अश्वारोही ने दाहिनी ओर से दौड़ते हुए आकर उनके तीव्रगामी घोड़े की लगाम थाम ली। घोड़ा एकाएक रुक गया। बहादुरसिंह उस बालक के इस महान् साहस तथा अश्वचालन-चातुर्य को देख आश्चर्यचकित नयनों से उसकी ओर ताकते रह गए। बालक के गुलाबी कपोलों पर पसीने की बूँदें छलछला रही थीं। अपने बाएँ हाथ की कोमल-कोमल उँगलियों से वह बहादुरसिंह के घोड़े की लगाम थामे अपने घोड़े की जीन के एक ही ओर पाँव लटकाए बैठा था। बहादुरसिंह के मुँह से एक भी शब्द न निकल सका। बालक ने माथे का पसीना दाहिने हाथ से पोंछते हुए पतले स्वर में कहा—क्षमा करना पथिक! मैं कर्मागढ़ का रास्ता भूल गया हूँ। दूर से आपको जाते देख मैंने मार्ग पूछने के लिए यह धृष्टता की।

बहादुरसिंह—ओह! मैं तो स्वयं कर्मागढ़ जा रहा हूँ। मेरे साथ चल सकते हो। रास्ते का साथ भी होगा।

बालक ने प्रसन्नतापूर्वक अपना घोड़ा बहादुर के बग़ल में डाल दिया। दोनों अश्वारोही द्रुतगति के साथ कर्मागढ़ की ओर अग्रसर होने लगे। सहसा बहादुर ने कहा—"क्या मैं पूछ सकता हूँ, आप कर्मागढ़ किसके यहाँ जायँगे? और आपका नाम क्या है?" बालक ने मुसकराते हुए कहा—"मेरा नाम कमलनयन है। कर्मागढ़ के चतुरसिंह मेरे मित्र हैं। उन्हीं के यहाँ जाऊँगा।"

बहादुर ने देखा, बालक उन्हीं के प्रतिद्वन्दी के यहाँ जा रहा है। एक बार उनकी इच्छा हुई कि बालक पर हाथ साफ़ करके स्वयं कमलनयन बन बैठे, परन्तु बालक के भोलेपन ने उन्हें मानो मना कर दिया। फिर भी बात को और आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने पूछा—"परन्तु इस प्रकार अनेक विपत्तियों को झेल कर अकेले कर्मागढ़ जाने की तुम्हें क्या आवश्यकता आ पड़ी?" बालक कुछ ठहर गया। मानो किसी रहस्य को छिपाने का प्रयत्न कर रहा हो। उसने भेद-भरी चितवन से बहादुर की ओर देखा। बहादुरसिंह ने उसे असमञ्जस में पड़ा देख कर कहा—"यदि कोई गुप्त बात हो तो जाने दीजिए। मुझे कोई आग्रह नहीं है। मैंने तो योंही पूछ लिया था।" बालक ने लज्जित होकर कहा—"नहीं, आपने मेरे साथ इतनी कृपा की है तो आपसे छिपाव क्या? मेरे एक नवयुवक मित्र दीयागढ़ की राजकुमारी इन्दु को खोजते हुए कर्मागढ़ गए थे। इन्दु कर्मागढ़ के कारागार

में है। परन्तु कई दिन हो जाने पर भी अभी नहीं लौट सके। उन्हीं की चिन्ता में मैं जा रहा हूँ।"

बहादुरसिंह यह सुन कर आश्चर्य-सागर में डूब गए। उन्होंने विचार किया कि हो न हो नवलसिंह कर्मागढ़ पहुँच गया है। इस बालक की उससे किसी प्रकार मित्रता रही होगी। बहादुर ने निश्चय करने के लिए पूछा—"उनका नाम क्या है?" बालक "नवल× × ×" कहते-कहते रुक गया। बहादुरसिंह ने पूछा—"नवलसिंह?" बालक ने सिर हिला दिया।

बहादुरसिंह विचार करने लगे—यह उच्छृङ्खल नवलसिंह अपनी उतावली के कारण कहीं कर्मागढ़ में जाकर फँस न गया हो। इसका पहुँचना अच्छा नहीं हुआ। यह सारा मामला मिट्टी कर देगा। बालक के प्रति उन्होंने गम्भीरता-पूर्वक कहा—"और यदि आपके मित्र भी कारागार पहुँच गए हों? क्योंकि कर्मागढ़ के कारागार से राजकुमारी को निकाल लाना कोई दिल्लगी तो है नहीं?"

कमलनयन—तो मैं उनके उद्धार का प्रयत्न करूँगा।

बहादुरसिंह—क्या मैं आपकी इस विषय में कुछ सहायता कर सकता हूँ? मुझे थोड़ी बहुत अय्यारी भी आती है।

कमलनयन ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—आपकी अनुकम्पा होगी।

बहादुरसिंह—परन्तु इसके लिए आपको अपने दूसरे मित्र चतुरसिंह के साथ विश्वासघात करना पड़ेगा। क्योंकि आपके दोनों मित्र एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं। आप दोनों को सन्तुष्ट कैसे कर सकते हैं।

कमलनयन—चतुरसिंह को व्यक्तिगत हानि पहुँचाए बिना जो आप कहेंगे, मैं करूँगा।

बहादुरसिंह—ठीक है, उन्हें व्यक्तिगत हानि न होने पावेगी। परन्तु आपको अन्त तक मेरा साथ देना पड़ेगा।

कमलनयन—अवश्य।

बहादुरसिंह को एक नया सहायक पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे शीघ्र ही बाल अश्वारोही के साथ-साथ भविष्य के कार्यक्रम पर विचार करते हुए कर्मागढ़ पहुँच गए। नगर के बाहर एक बट-वृक्ष के नीचे घोड़े को रोक कर उन्होंने बालक से कहा—"यहाँ से मेरा मार्ग तुमसे अलग होगा। तुम अपने मित्र के यहाँ जा सकते हो। तुम अपने ढङ्ग पर चतुरसिंह से बहुत सहज में इतना पता ले सकते हो कि नवलसिंह की चतुरसिंह से मुलाक़ात हुई है या नहीं। दो घण्टे बाद जब अँधेरा हो जायगा, तब मैं चतुरसिंह के मकान के निकट से होकर निकलूँगा। तुम उसी समय एक पत्र में सब समाचार लिख कर एक ढेले में बाँध कर सड़क पर डाल देना। प्रातःकाल होते ही मुझसे इसी स्थान पर मिलना, जिससे मैं आगे का कार्यक्रम तुम्हें समझा सकूँ।" कमलनयन

ने बहादुरसिंह से बिदा ली। बहादुरसिंह उसी सघन वृक्ष की शीतल छाया के तले दीर्घयात्रा का श्रम निवारण करते हुए विचारने लगे—"यह बालक कौन है। इसका नवल से कैसा परिचय है? यह नवल की सहायता के लिए क्यों इतना उत्सुक है? ख़ैर, यह बात अन्त में देखी जायगी। अभी तो किसी प्रकार काम निकालना है।" मन्द पवन के कारण बहादुर को हलकी सी नींद आ गई। जब उन्हें चेतना हुई तो देखा, अँधेरा हो चला था। सकपका कर वे उठ बैठे। अधिक विलम्ब करना उचित न समझ कर वे चतुरसिंह के मकान की ओर लपके। उधर बालक कमल-नयन दुमञ्ज़िले पर खिड़की के निकट बैठा इनकी प्रतीक्षा कर रहा था। परन्तु अन्धकार के कारण बहादुरसिंह उसे न देख सकते थे। सड़क पर लालटेन के मन्द प्रकाश में बालक ने बहादुरसिंह को देखा। पत्थर से बँधा हुआ एक काग़ज़ का टुकड़ा सड़क पर आ गिरा। उसे उठा कर उसी लालटेन के प्रकाश में उन्होंने झटपट पढ़ डाला। उसमें लिखा था—"विक्रम, मेघ, नवल नामक तीन व्यक्ति इस समय तक कारागार में पहुँच गए हैं।"

बहादुरसिंह अन्धकार में अदृश्य हो गए। उन्होंने देखा, मेरा अनुमान ठीक निकला। परन्तु ये तीनों यहाँ कैसे आ फँसे। आश्चर्य है। कैसे इन तीनों को कर्मागढ़ का पता मिल गया? मैंने तो इन्हें अलग-अलग भेजा था। फिर ये

एक साथ कैसे जा पहुँचे ? सारी घटनाएँ उन्हें अज्ञात थीं। किसी प्रकार उन्होंने रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल होते ही वे उसी बट-वृक्ष के निकट जा पहुँचे। बालक पहले से ही उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। बहादुरसिंह ने उसके साहस की प्रशंसा करते हुए कहा—अब हमारे सामने बड़ी कठिन समस्या आ पड़ी है। कर्मागढ़ के कारागार से किसी बन्दी को मुक्त करना सहज नहीं है। अच्छा यह बताओ, चतुरसिंह के घर में इस समय कितने आदमी हैं ?

कमलनयन—केवल चतुरसिंह ! शेष सब लोग तो मेरे ही यहाँ आमन्त्रित होकर गए हैं।

बहादुरसिंह की प्रसन्नता की सीमा न रही। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ कहा—"तो विजय हमारे हाथ है। लो, मैं तुम्हें यह तेल देता हूँ, इसे सन्ध्या के समय किसी बहाने चतुरसिंह के कपड़ों पर छिड़क देना। कमरे में जितने आदमी हों, सबके कपड़ों पर थोड़ा-थोड़ा छिड़क देना। तुम अपने पास इस रूमाल को रखना। सबको नींद आ जायगी। तुम घबराना नहीं, बाक़ी बातें मैं स्वयं आकर सँभाल लूँगा। मुझे तुम शायद पहचान न सकोगे। दाहिने हाथ की दो उँगलियाँ उठाते ही तुम मुझे जान लेना। सावधानी से सब काम करना।" कहते हुए बहादुर ने बालक के हाथ में तेल की एक छोटी शीशी और एक रूमाल दिया। बालक अपने घोड़े पर सवार होकर फिर नगर की ओर चल दिया।

सायङ्काल होते ही बहादुरसिंह भी धीरे-धीरे छद्मवेश में जाकर चतुरसिंह के मकान के निकट टहलने लगे। प्रायः आधा घण्टा के पश्चात् उन्हें मकान के भीतर से दो बार हलके धमाके का शब्द सुन पड़ा। उन्होंने समझ लिया, बालक ने काम पूरा कर लिया है। दाहिने हाथ की दो उँगलियाँ उठाए हुए उन्होंने भीतर प्रवेश किया। फ़र्श पर चतुरसिंह और हरिसिंह अचेत पड़े थे। निकट ही शतरञ्ज की आधी खेली हुई बाज़ी लगी थी। परन्तु बालक के स्थान पर एक नवयुवती को देख कर वे आश्चर्य से स्तम्भित रह गए। उन्हें असमञ्जस में पड़े देख युवती ने मुसकराते हुए कहा—"शङ्का न कीजिए, मैं वास्तव में बालिका ही हूँ। क्षमा कीजिए, मैंने आपसे इतना भेद छिपा रक्खा था। चतुरसिंह मेरे मित्र नहीं, मामा हैं। इस समय दोनों को शतरञ्ज की बाज़ी में व्यस्त देख कर मैंने अपना काम पूरा किया है। बाक़ी रहस्य मैं पीछे बताऊँगी। आप इस समय अपना काम पूरा कीजिए। बहादुरसिंह ने शीघ्र ही चतुरसिंह और हरिसिंह को रँग कर विक्रम और मेघसिंह के रूप में परिवर्तित कर दिया। और देखते ही देखते स्वयं चतुरसिंह बन बैठे। बालिका की ओर दृष्टि फिरा कर उन्होंने कहा—मुझे पहिचानती हो ?

बालिका—अरे ! आप तो बिलकुल चतुरसिंह जान पड़ते हैं।

बहादुरसिंह—बोलो, क्या तुम हरिसिंह बनना पसन्द करोगी ?

बालिका ने कौतूहल के साथ सिर हिला दिया। बहादुरसिंह के विचित्र रङ्गों के सहारे बालिका का मुँह ठीक हरिसिंह के समान बन गया।

बहादुरसिंह ने हँसते हुए कहा—देखो हरिसिंह, डरना नहीं। यही साहस की परीक्षा का समय है। अचेत प्राणियों की ओर देखते हुए उन्होंने कहा—इन्हें कम से कम छः घण्टे तक विश्राम करना होगा।

अन्धकार हो चला था। कमरे की साँकल चढ़ा कर दोनों बाहर निकल आए। बहादुरसिंह दो-चार बार कर्मागढ़ पहले भी आ चुके थे। उन्हें कारागार के एक-एक विभाग का हाल मालूम था। हरिसिंह (बालिका) को साथ लिए हुए वे बेधड़क बढ़े चले गए। कारागार के संरक्षक के निकट जाकर उन्होंने निश्चित स्वर में कहा—दीयागढ़ के तीनों अय्यारों को आज मेरे साथ मेरे मकान की ओर जाना होगा। आज कुछ नए रहस्यों का पता चला है। उन्हें धोखा देकर पूछने का प्रयत्न करूँगा।

चतुरसिंह की आज्ञा को कौन टाल सकता था। क्षण भर बाद तीन बन्दी लाकर सामने खड़े कर दिए गए। हरिसिंह की ओर मुड़ते हुए उन्होंने कहा—"हरि! इन्हें उसी स्थान पर ले चलो, जहाँ मेरा घोड़ा बँधा है। मैं अभी आता

हूँ। देखो तीनों की हथकड़ी-बेड़ी ठीक है न?" हरिसिंह सङ्केत समझ कर "हाँ ठीक है" कहते हुए उसी सघन बट-वृक्ष की ओर तीनों को खदेड़ते हुए ले चले। संरक्षक से उन्होंने कहा—"आधा घण्टा बाद सिपाही भेज कर तीनों क़ैदियों को मेरे मकान से बुलवा लेना।" कुछ ठहर कर उन्होंने कहा—"दो नई हथकड़ियाँ लेते आओ, शायद मुझे आवश्यकता पड़े।" संरक्षक ने पलक मारते, दो हथकड़ियाँ लाकर चतुरसिंह के हाथ पर रख दीं। बहादुरसिंह हथकड़ियों को लिए हुए चतुरसिंह के मकान की ओर चल दिए।

इधर हरिसिंह तीनों बन्दियों को लिए हुए बट-वृक्ष के निकट पहुँचे। बहादुर का घोड़ा अभी तक बँधा था। हरिसिंह ने अन्धकार के निकट जाकर तीनों बन्दियों की बेड़ी काट दी। बन्दी अभी तक चुपचाप इस नए व्यापार को देख रहे थे। बेड़ियाँ कट जाने पर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

हरिसिंह ने नवलसिंह के हाथ में एक छोटी सी डिबिया दी और पास बँधे घोड़े को खोल, उस पर सवार होकर एक एड़ लगाई। घोड़ा हरिसिंह को लिए हुए बगीचों के बीच अन्तर्धान हो गया। तीनों आश्चर्य के साथ एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। नवल ने बटुए से मोमबत्ती निकाल कर जलाई। डिबिया को खोल कर उन्होंने देखा, काग़ज़ का

एक छोटा सा टुकड़ा बड़ी सावधानी से सजाया हुआ रक्खा था। उत्सुकता के साथ उसे खोल कर उन्होंने देखा। उसमें लिखा था—"परदेसी, आप इस दुखिया को तो न भूले होंगे।—सरोजिनी।" नवलसिंह के आश्चर्य की सीमा न रही। परन्तु इस घटना को वे औरों पर प्रकट न होने देना चाहते थे। उन्होंने घबराहट के साथ झटपट उसे फाड़ डाला। इस समय तक चाँदनी निकल चुकी थी। अभी सब लोग इस घटना पर आश्चर्य-चकित होकर एक दूसरे की ओर ताक ही रहे थे कि नगर की ओर से बहादुरसिंह आते हुए दिखाई दिए। उन्होंने आते ही पूछा—छद्मवेशी हरिसिंह कहाँ है ?

विक्रमसिंह—वे तो हम लोगों के बन्धन खोल कर यहाँ पर बँधे हुए एक घोड़े पर चढ़ कर न जाने किधर अदृश्य हो गए। और आप यहाँ कैसे ?

बहादुरसिंह—अब यहाँ से शीघ्र चल दो। शेष बातें रास्ते में सुनते चलना।

चारों अय्यार बिना कुछ कहे-सुने बहादुर द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चल दिए। बहादुरसिंह ने आदि से अन्त तक सारी कहानी सुनाते हुए कहा—मैं दोनों अचेत अय्यारों को विक्रम और मेघ बना कर हथकड़ियों से बाँध आया हूँ। शीघ्र ही सिपाही वहाँ पहुँच कर उनकी दुर्गत करेंगे। बड़ी दिल्लगी रहेगी।

सभी अय्यारों ने आपबीती कह सुनाई। लोगों ने नवल से उस अश्वारोही मित्र के विषय में बहुत पूछना चाहा, पर उन्होंने सहस्रों प्रयत्न करने पर भी कुछ न बताया।

कर्मागढ़ से प्रायः दस मील निकल जाने के उपरान्त बहादुरसिंह ने कहा—"विक्रम! हम लोगों को अभी दीयागढ़ जाना होगा। शीघ्र ही महाराज को कुमारी की सूचना देकर उनकी चिन्ता को शान्त करना उचित है। इसके अतिरिक्त हम लोगों को यहाँ प्रतिक्षण पकड़ जाने का भय है।" बहादुर की सम्मति मेघ और नवल को भी पसन्द आई। सब लोग नेता की आज्ञा पाकर दीयागढ़ की ओर चल दिए।

———

दीयागढ़ राजप्रासाद की धवल गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ ठीक पहले ही की भाँति अभिमानपूर्वक अपना उन्नत मस्तक स्वर्गलोक से भिड़ाए देती थीं। भगवान दिननायक की प्रभातकालीन सुनहली किरणें सदा की भाँति प्रासाद के उच्चतम शिखरों का चुम्बन कर रही थीं। परन्तु दीयागढ़ के आनन्दोत्सव तो चञ्चल इन्दु के ही साथ चले गए थे। राजपरिवार का हास-विलास गहरे विषाद में परिवर्तित हो गया था। दीयागढ़-नरेश की लज्जा और ग्लानि, राजमहिषी की मानसिक वेदना तथा अन्य परिजनों के सन्ताप को अकथनीय कह कर ही सन्तोष करना पड़ेगा। इन्दु के आकस्मिक हरण की कहानी को गुप्त रखने का प्रयत्न किया जा रहा था, परन्तु ऐसी अघटन

घटना को जनसाधारण से छिपा रखना सहज नहीं। कानों-कान इसका समस्त समाचार दीयागढ़ राज्य भर में फैल गया। लोग अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते थे। परन्तु भोली इन्दु को जिन्होंने देखा था, वे आठ आँसू रोए बिना न रहते थे। जब प्रजाजन की यह अवस्था थी, तो इन्दु की सतत सङ्गिनी कुमारी चन्द्रावती की व्यथा का अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं।

चन्द्रा अपना कोमल हृदय प्रथम ही चित्र-लिखित राजकुमार की भेंट चढ़ा चुकी थी। उसका रहा-सहा सुख भी इन्दु के साथ चला गया। एक मालिन थी, वह अपनी मीठी-मीठी बातों से राजकुमारी के उदास चित्त को कुछ सान्त्वना दे सकती थी। परन्तु वह तो शान्ति देने के बदले भोली चन्द्रा के हृदय में विरह की असह्य अग्नि भभका कर इन्दु-हरण के दूसरे ही दिन न जाने किस लोक में समा गई। अब चन्द्रा को शान्ति कहीं न थी। राजपरिवार के अन्य सभी जन अपनी-अपनी व्यथा हृदय में दबाए, भगवान का भरोसा किए किसी प्रकार कालयापन कर रहे थे। इधर चन्द्रा दिन भर उन्माद-ग्रस्त की भाँति इस कमरे से उस कमरे में भटकती मानो इन्दु को खोजा करती थी। हार कर अपने उपवन चली जाती, परन्तु वहाँ भी उसे सुख न था। एक ओर राजकुमार चन्द्रसिंह का विरह उसे जलाए डालता था, दूसरी ओर

प्यारी इन्दु की अनिष्ट शङ्का उसका हृदय नोचे लेती थी।

उस दिन प्रातःकाल होते ही वह अपनी फुलवाड़ी में चली गई थी। दक्षिण वाले शीतल-लता-मण्डप के नीचे सुनहले झूले पर बैठी वह गहरी साँसें ले रही थी। उसकी कुछ विश्वसनीय दासियाँ तथा प्यारी सखियाँ उसे चारों ओर से घेरे उसके उदास मुख की ओर ताक रही थीं। परन्तु चन्द्रा की दृष्टि किसी पर न जमती थी। इस सुरम्य उपवन में चन्द्रा ने अपने भोले शैशव के न जाने कितने प्रभात बिताए थे, न जाने कितनी बार शरच्चन्द्रिका के साथ अठखेलियाँ की थीं। वह बचपन में इस उपवन की कुसुम-मञ्जरियों को दौड़-दौड़ कर चूमा करती थी। इतने पर भी जब उसको सन्तोष न होता था तो वह उन फूलों को गालों पर लगाती, आँखों से छुलाती तथा टहनियों समेत गोदी में लिपटा लिया करती थी। उसकी प्यारी बहिन इन्दु छाया की भाँति उसके साथ रहा करती थी। उसके हृदय से शैशव का भोलापन गया नहीं था। यौवन की मादकता का रहस्य उसे ज्ञात न हुआ था। उसका अपना एक अलग संसार था। धीरे-धीरे उसने मन्द गति से यौवन की कुसुमित क्यारी में पदार्पण किया। वयःसन्धि के उस युग में उसने अनेक विचित्र व्यापारों का अनुभव किया। वह प्रायः किसी अस्पष्ट कल्पना के

साथ रोमाञ्चित हो उठा करती थी। उपवन के फूलों में उसने नई मस्ती देखी और कोयल की कुहू में अनोखा आकर्षण।

वसन्त की मतवाली सन्ध्या में जब कोई सुरीला पक्षी सुनहले क्षितिज के एक किनारे से अपनी धुन में गाता हुआ दूसरे किनारे की ओर उड़ जाता था, तो बेचारी चन्द्रा के हृदय में एक रेखा सी दौड़ जाती थी। उसकी भोली इन्दु उस समय भी उसके साथ थी। एक दिन उसी बाटिका में एक छलिया काग़ज़ के एक नन्हे से टुकड़े पर नन्हा सा रूप बना कर आया और बरबस चन्द्रा का हृदय चुरा ले गया। ठीक इसी बगीचे में तो यह चोरी हुई थी। घर की एक मालिन ने इस उपवन का भेद बता दिया था। उस दिन से चन्द्रा किसी को खोजने लगी। उसके वैभव-शाली राजभवन में सब कुछ तो था, परन्तु चन्द्रा को वह कुछ नहीं के समान जान पड़ने लगा। फूलों में और लताओं में उसकी लजीली आँखें खोजा करती थीं उस छलिया को, जो उसका हृदय चुरा ले गया था। हृदय चला गया था, वह किसी न किसी दिन छलिया को फाँस कर अपने साथ लाता ही, परन्तु उसकी चपल इन्दु अब तक उसके साथ थी। निठुर विधाता को यह भी असह्य हो उठा। उस दिन उसकी इन्दु भी राजप्रासाद से खो गई। आज चन्द्रा एकदम अकेली है। उसका सब कुछ चला गया। पहले हृदय, फिर इन्दु।

बाल-जीवन का स्मृति-चिह्न यह उपवन आज उसे काटने दौड़ता था। वह अपने व्यथित हृदय को फुसलाने के लिए लतामण्डप के तले सखियों से परिवेष्ठित नमितमुख बैठी थी। बीच-बीच में चम्पा झूले को हौले-हौले झुला देती थी। झूले के ऊपर लदी हुई हरी-हरी घनी लताएँ भी चन्द्रा के दुःख से दुखी होकर कलियों के बहाने आँसू गिरा रही थीं। लताएँ अपने नन्हे करों को नीचे तक फैला उसके मुख-मण्डल के आगे धीमे-धीमे हवा कर रही थीं। परन्तु चन्द्रा के हृदय को शान्ति कहाँ? वह अपने दाहिने हाथ से चिबुक का भार सँभाले तथा कुहनी को तकिए पर जमाए सुदूर चमेली की खिली हुई झाड़ी को औदास्यपूर्ण दृष्टि से देखती बैठी थी। उसके माथे पर चिन्ता की तीन गहरी लकीरें खिंची हुई थीं। उसकी अलसाई हुई आँखें उसकी निद्रा-रहित रातों का भेद बताए दे रही थीं। वियोगिनी के कोमल हृदय पर गहरी चोटें लग चुकी थीं। उसे निद्रा कहाँ? चन्द्रा के अव्यवस्थित केश हवा के हलके-हलके थपेड़ों से मन्द-मन्द हिल रहे थे। ऐसा जान पड़ता था कि वह जीवन में कभी नहीं हँसी। अपने हृदय की बची-खुची सारी शक्ति बटोर कर चन्द्रा ने चम्पा की ओर देखते हुए कहा—"चम्पा, महाराज ने बहादुरसिंह को भेजा था, उनका कुछ समाचार क्या तूने सुना?" चम्पा ने निराशापूर्ण स्वर में उत्तर दिया—"कहाँ कुमारी! कुछ तो नहीं सुना।

सुनती हूँ, बहादुरसिंह अपने साथियों सहित कुमारी को खोज लाने की प्रतिज्ञा करके निकले हैं। तब से तो मैंने कुछ भी नहीं सुना, कुमारी !"

चन्द्रा ने लम्बी साँस लेते हुए कहा—"ठीक है चम्पा। जब मैंने ही नहीं सुना तो तू कहाँ से सुनेगी। बेचारी इन्दु का कुछ पता नहीं लगा, कैसी चञ्चल लड़की थी चम्पा ! मेरी उदासी देख कर झुँझला उठती थी। न जाने कैसे रहती होगी। उसे वह चमेली बहुत सुहाती थी। रात-दिन खिलखिलाती रहती थी। और अब × × ×" कहते-कहते चन्द्रा के करुण नयन सजल हो गए।

आँसू की दो बड़ी-बड़ी बूँदें उसकी आँखों की कोर से निकल कर उसके चिकने गुलाबी गालों पर फिसल चलीं। इस विषाद की कथा कौन कह सकेगा ? शैशव से नए-नए राजसुखों की गोद में पली राजदुलारी के आँसू का मूल्य कौन समझेगा। आज की इस दुखिया ने कभी चिन्ता की परिभाषा भी न सीखी थी। मदन की जलाई राजकुमारी को कौन आश्वासन दे ?

चम्पा ने काँपते हुए स्वर में कहा—"कुमारी ! धीरज धरो × × ×" चम्पा बहुत कुछ कहना चाहती थी, परन्तु उसका अधीर नारी-कण्ठ रुक गया। चन्द्रा ने कुछ प्रकृतिस्थ होकर कहा—"और वह मालिन ! चम्पा, इन्दु को वह मालिन बड़ी अच्छी लगती थी। वह भोली मालिन मेरे

लिए रोज़ एक अनोखा गुलदस्ता लाती थी और इन्दु के लिए गजरा। इन्दु को फूलों का हार बहुत प्रिय था। वह मालिन भी इन्दु के साथ ही न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गई। इन्दु उसका गजरा वाला गाना सुनते न थकती थी। भला चम्पा तू जानती है, वह कहाँ की थी।"

चम्पा ने अपनी डबडबाई हुई आँखें पोंछते हुए कहा—कुमारी ! मैंने तो उससे कभी पूछा ही नहीं।

चन्द्रा०—देख, इतने दिन वह यहाँ रही, मैंने भी न पूछा। कौन जाने वह इन्दु को ही खोजने गई हो। इन्दु से उसका बड़ा साथ था। उसे भी दुःख हुआ होगा।

चन्द्रा का जी झूले पर न लगता था। अकस्मात् वह उठी और झूले के नीचे बने हुए स्वच्छ श्वेत चबूतरे पर खड़ी हो गई। चबूतरे से उतरने के लिए तीन छोटी-छोटी सीढ़ियाँ थीं। उन पर सावधानी से पाँव धरती हुई वह नीचे उतरने लगी। उसकी पतली कमर के कारण उसका शरीर उसके वक्षों पर झूल सा रहा था। चबूतरे से उतर कर विरह-विधुरा चन्द्रा मन्द गति से निरुद्देश्य टहलने लगी। दासियाँ और सखियाँ अगल-बगल और पीछे होकर चलने लगीं। चन्द्रा ने चम्पा की ओर घूमकर कहा—"चम्पा, तू सबको लेकर ऊपर चल। मैं फूल चुन कर अभी आती हूँ।" उसका मन सखियों के बीच न लगता था। इशारा पाकर सब चली गईं। चन्द्रा अकेली उपवन में रह गई।

वह मन ही मन चिन्तन करने लगी—"वह राजकुमार का चित्र कहाँ से पा गई थी। हाय! जब वह यहाँ थी तब मैंने क्यों न पूछा? आखिर मेरी घबराई हुई अवस्था को देख कर मेरी आन्तरिक परिस्थिति तो वह अवश्य ही ताड़ गई होगी। वह बड़ी चतुर मालिन थी। फिर मैंने उससे इतनी लाज क्यों की? उसके हाथ प्रियतम के पास सन्देशा ही भेज सकती थी। परन्तु कौन जाने वे मेरी दशा पर पसीजते भी या नहीं। कुछ भी हो, परन्तु कम से कम मालिन से उनके सम्बन्ध की चार बातें करके कुछ सन्तोष तो प्राप्त कर सकती थी। आज तो विरह की प्रबल ज्वाला मुझे जला कर राख ही किए डालती है। अब तो कोई उपाय नहीं। किससे कहूँ। अच्छा जब जलाना ही है तो नाथ! इतनी तो कृपा करना कि मुझ मदन-दग्धा की राख उस पथ पर जा पड़े, जिस पर होकर मेरे हृदय-धन कभी तो निकलें। आह! यदि वह मालिन एक बार फिर मिलती तो उससे इस दाह की सारी कथा कह डालती। ××× और राजकुमारी होकर भी सजल नयनों से गिड़-गिड़ा कर कहती—"प्यारी मालिन! तुम्हीं ने यह आग ज़लाई है, तुम्हीं शान्त करने का उपाय करो।"

वियोगिनी चन्द्रा व्यथित चिन्तित विविध करुण दृश्यों की कल्पना कर ही रही थी कि अकस्मात् उसने परिचित कण्ठ से वही परिचित गीत गाते सुना :—

"गजरा बना के राजा लाई मलिनियाँ।
इस गजरे में मन गुहि लीन्हों,
नेह की आँच लगाई मलिनियाँ।"

क्षण भर बाद उसने देखा, वही मालिन हाथ में गुलदस्ता लिए हुए मुख्य द्वार की ओर चली आती है। चन्द्रा आँख मल-मल कर देखने लगी। कहीं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ। मालिन बिलकुल पास आ पहुँची थी। उसने कुछ स्वाभाविक चपलता के साथ कहा—"कुमारी, आपका गुलदस्ता!" चन्द्रा ने शोक से लदे हुए कण्ठ से सिसकते हुए कहा—"और गजरा? मालिन! इन्दु का गजरा नहीं लाई?" गजरे की बात सुन कर मालिन की आँखों में आँसू भर आए। उन्हें बरबस रोकते हुए उसने कहा—"गजरा होता तो इन्दुरानी अब तक छीन न लेतीं।"

चन्द्रावती फूट-फूट कर रोने लगी। वह खड़ी न रह सकी। अपना मस्तक उसने मालिन की गोद में डाल दिया। मालिन चन्द्रा का सिर गोद में रख कर बैठ गई।

चन्द्रा सिसकती हुई टूटे हुए स्वरों में रुँधे कण्ठ से बोली—मालिन! तू भी भाग गई मालिन! तुझे क्या किसी ने कुछ कहा था? तू क्यों रूठ गई? भली मालिन, मेरे साथ रह कर इन्दु की दो बातें कहती। जिससे मैं रोकर अपना जी कुछ हलका कर लिया करती। इतने दिन तक कहाँ थी मालिन?

मालिन ने चन्द्रा के आँसू पोंछते हुए कहा—कुमारी ! इन्दु के बिना मेरा जी न लगता था। मेरी भोली इन्दु—मैं इसीलिए चली गई थी कुमारी ! आपके राज में मुझे कोई कुछ कहता क्या रानी ?

चन्द्रा की आँसुओं की झड़ी न थमती थी। उसका जी आज मालिन को फिर पाकर मदन की असह्य ज्वाला से धधक उठा था। उसे विश्वास था कि मालिन उसका प्रेम-रहस्य ताड़ चुकी है। लज्जा को तिलाञ्जलि देकर हिचकी लेते हुए उसने कहा—मालिन, मेरे हृदय को जला कर तूने फिर मेरी सुध भी न ली।

मालिन सब भेद समझ गई। उसने रहस्यपूर्ण ढङ्ग में कहा—कुमारी, तुम्हारी अवस्था देख कर उसी की औषधि के लिए मैं बन-बन भटकती फिरी।

चन्द्रा सहम गई। आगे पूछने का उसे साहस न हुआ। लज्जा के कारण उसने अपना गुलाबी मुँह दोनों हाथों से मूँद लिया।

मालिन ने अधिक अवकाश न देख कर कहा—कुमारी, महाराज चन्द्रसिंह भी तुम्हारी ही तरह तुम्हारे वियोग की ज्वाला में जल रहे हैं। वह देखो, उस खिड़की की ओर। उनकी आँखें तुम्हारी ओर लगी हैं। चन्द्रा ने आँखें खोल कर एक बार मालिन की ओर देखा। फिर उस खिड़की की ओर दृष्टि घुमाई। उसने देखा, दो बड़ी-बड़ी डबडबाई

हुई आँखें उसकी ओर ताक रही हैं। महाराज चन्द्रसिंह का तेजस्वी मुख-मण्डल अंशतः झरोखों में होकर दिखाई दे रहा था। चन्द्रा की महाराज से चार आँखें हुईं। भावावेश के कारण उसका समस्त शरीर सिहर उठा। उसका निर्बल हृदय इस आकस्मिक आवेश को सहन न कर सका। उसने अचेत होकर मालिन की गोद में सिर डाल दिया।

× × ×

महाराज चन्द्रसिंह दीयागढ़ के निकट पहुँच कर एक बार चन्द्रावती के दर्शनों का लोभ सम्बरण न कर सके। चतुर पाठकों को यह बताने की आवश्यकता न होगी कि चन्द्रसिंह की इच्छापूर्ति के लिए शिवसिंह ने ही चतुराई से पुनः मालिन बन कर दोनों प्रेमियों की प्यारी आँखों की तृषा तृप्त करने का आयोजन किया था। खिड़की पर आँख गड़ाए हुए चन्द्रसिंह का हृदय राजकुमारी के गाढ़ आलिङ्गन के लिए व्याकुल हो रहा था। परन्तु उस धीर नरेश ने उस दुर्लभ राजकुमारी का, विवाह की प्रतिज्ञा पूर्ण करने से पूर्व, अङ्ग स्पर्श करना उचित न समझा। कुमारी के अचेत हो जाने पर उनकी अभिलाषा एक बार और प्रबल हो उठी, परन्तु उन्होंने उसे बरबस कुचल कर अपने शिविर का रास्ता लिया। शिवसिंह ने ऐसी भूल कर बैठने से एकदम मना भी कर दिया था, अन्यथा अन्तःपुर के

कर्मचारियों के देख लेने पर भारी गोलमाल हो जाने की सम्भावना थी।

× × ×

शिवसिंह ने अनेक दवाइयों की सहायता से कुमारी को सचेत किया। चकित हरिणी की भाँति चन्द्रावती ने इधर-उधर देखा, मानो किसी सुख-स्वप्न से जाग पड़ी हो। मालिन को पास देख कर उसे समस्त घटनाओं का स्मरण हो आया। लज्जा के कारण उसके मस्तक पर स्वेद-बिन्दु झलक आए। भर्राए हुए स्वर में उसने कहा—"मालिन, मेरा जी घबरा रहा है, तू मुझे महल में पहुँचा दे।" मालिन ने अनुनयपूर्वक कहा—"कुमारी! मुझे आज्ञा दो। तुम्हारे काम से ही मेरा जाना एकदम आवश्यक है।" चन्द्रा ने कहा—"अच्छा तू मुझे पहुँचा कर चली आइयो। मैं तुझे रोकूँगी नहीं।" मालिन कुमारी को महल की ओर ले चली, चन्द्रा ने लज्जा के कारण मालिन से कुछ न पूछा। मानो कोई घटना ही न हुई हो। शिवसिंह ने अन्तःपुर वाले द्वार पर पहुँच कर पुकारा—"चम्पा! अरी ओ चम्पा!" विद्युत्-वेग के साथ चम्पा बाहर आई, मालिन को देख कर आश्चर्यचकित रह गई, मालिन ने झिड़क कर कहा—"पगली चम्पा, कुमारी का जी अच्छा नहीं और तुम सब उन्हें अकेली छोड़ देती हो।"

चन्द्रावती की मुख-मुद्रा देख कर चम्पा ने समझ लिया

कि राजकुमारी अस्वस्थ हो गई हैं। अपराधी की भाँति घबराए हुए स्वर में बोली—सरकार की ही आज्ञा से तो हम लोग चली गई थीं।

मालिन ने कुछ और झुँझलाते हुए कहा—"फिर भी देखते तो रहना चाहिए। अच्छा कुमारी को भीतर ले चल। मैं अभी आई।" कह कर वह वेगपूर्वक बाहर चली गई। चम्पा इस आकस्मिक घटना से घबरा जाने के कारण मालिन से उसके विषय में कुछ पूछ ही न सकी। कुमारी को लिए भीतर गई, दासियों के बीच मालिन की चर्चा होने लगी। चम्पा बोली—"मालिन अभी आती ही होंगी।" परन्तु मालिन फिर नहीं आई।

× × ×

दीयागढ़-नरेश महाराज वीरसिंह नित्य की भाँति समस्त आवश्यक राजकीय कार्यों को अन्यमनस्क होकर जैसे-तैसे भुगता रहे थे। बार-बार वे पार्श्ववर्ती कर्मचारियों से पूछते—"बहादुर तो नहीं आए ?" परन्तु निराशाजनक उत्तर पाकर फिर अपना मस्तक नवा काम में जुट जाते। द्वारपाल जब किसी के आगमन की सूचना देने के लिए उन्हें आदाब बजाता, तो उनके कान "बहादुरसिंह" का नाम सुनने के लिए लालायित हो उठते थे। परन्तु बहादुरसिंह के स्थान में किसी और का ही नाम सुन कर वे निराशा से सिर झुका लेते। आज अकस्मात् फिर द्वारपाल ने आकर सलाम

किया। महाराज अधीरता के कारण स्वयं पूछ बैठे—"क्या बहादुरसिंह आए हैं ?" द्वारपाल बोला—"नहीं महाराज ! मील्रूगढ़-नरेश महाराज चन्द्रसिंह श्रीमान् से मिलना चाहते हैं।"

× × ×

चन्द्रसिंह ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"नहीं महाराज, यह तो असम्भव है। जब तक मील्रूगढ़ के एक भी सैनिक के शरीर में प्राण है, तब तक मैं दीयागढ़ की शान्ति भङ्ग न होने दूँगा। आपके सैनिक तथा अस्त्रागार निःशङ्क होकर विश्राम करें। मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं अकेला ही कर्मागढ़-नरेश को परास्त करूँगा। महाराज, मेरी प्रतिज्ञा का पालन होने दें।" वीरसिंह ने सिर झुका कर चन्द्रसिंह के दृढ़ प्रस्ताव की स्वीकृति दी। वास्तव में कर्मागढ़-नरेश का उन्हें सदा भय बना रहता था, परन्तु प्रत्यक्ष रूप में कर्मागढ़ पर आक्रमण करने का उन्हें साहस न था। वे विचारते थे कि यदि युद्ध में पराजय हुई तो कर्मागढ़-नरेश उनकी दुर्दशा किए बिना न मानेंगे।

बड़ी देर तक युद्ध-सम्बन्धी वार्तालाप होते रहने के उपरान्त महाराज वीरसिंह ने चन्द्रसिंह की सुविधा का पूर्ण प्रबन्ध करके उन्हें विश्राम के लिए बिदा किया। चन्द्रसिंह भी यात्रा के श्रम-निवारणार्थ सुकोमल सेज पर जा लेटे।

इधर इन्दु का समाचार तथा मीलूगढ़-नरेश की प्रतिज्ञा की चर्चा सुन कर राजपरिवार के आनन्द की सीमा न रही। चन्द्रा तो अपने प्रियतम के साहस पर फूली न समाती थी। बहुत दिनों बाद उसे आज लोगों ने गर्व के साथ मस्तक ऊँचा किए चलते देखा। कभी-कभी उसे चन्द्रसिंह के ध्येय की दुरूहता का ध्यान आने पर कुछ शङ्का होने लगती, परन्तु वह विचारती कि उनका धर्म उनकी रक्षा करेगा। वे वीर पुरुष हैं। विजय-लक्ष्मी समर-भूमि पर अदृष्ट रूप से उनके साथ रह कर विपत्तियों से उनकी रक्षा करेगी। और मेरी पवित्र मङ्गल-कामनाएँ उनके चरण-कमलों के निकट रह कर उनके संग्राम-पथ के कण्टकों को झाड़ती चलेंगी। आज उसके व्यथित चित्त को कुछ शान्ति मिली। उसकी मुरझाई हुई आशालता चन्द्रसिंह के चरितामृत से सिंच कर फिर पनप चली। वह अपने आसन पर एकान्त में बैठ कर अपने मानस-पटल पर खिंची हुई चन्द्रसिंह की डबडबाई हुई आँखों का दर्शन करने लगी। कैसा तेजस्वी मुख-मण्डल था! आँखों में शील और शक्ति का कैसा सुन्दर मेल था। वह शील उन्हें मुझ दुखिया तक खींच लाया था और वह शक्ति निश्चय ही इन्दु को मुझसे मिलाएगी। चन्द्रा को कुछ झपकी सी आ गई। अर्द्ध-निद्रित अवस्था में उसे प्रतीत होने लगा, मानो चन्द्रसिंह विजयश्री के साथ-साथ इन्दु को लिए मुस्कराते उसके

चिरवाञ्छित आलिङ्गन के लिए दोनों हाथ फैलाए उसकी ओर चले आ रहे हैं। चन्द्रा इन्दु के कारण मानो लाज से ठिठक कर खड़ी रह गई। परन्तु दूसरे ही क्षण विजयश्री को सौत के रूप में देख, रूठ कर दूसरी ओर चल दी। चन्द्रसिंह मानो खिलखिला कर हँस पड़े। चन्द्रा की निद्रा-भङ्ग हो गई। कहीं कुछ तो न था।

दीयागढ़ के उदासीन राजगृह में आज फिर कुछ चहल-पहल दिखाई देने लगी। प्रातःकाल महाराज वीरसिंह जी अपने उपासना-गृह में अकेले टहलते हुए विचार रहे थे कि चन्द्रसिंह के वीर पुरुषोचित्त मुख-मण्डल की अनुपम कान्ति उनके बलिष्ठ शरीर की गठन यदि मैंने पहले देख ली होती, तो चन्द्रा के विवाह के लिए ऐसी कठिन प्रतिज्ञा क्यों करता ? परन्तु अब पश्चात्ताप से क्या लाभ ? भगवान इस शूर को शक्ति दे कि यह मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण कर सके। अहा ! कैसा कर्त्तव्यपरायण नवयुवक है। प्रथम दर्शन होने पर भी मुझे ऐसा लगा मानो वर्षों से मेरा उससे परिचय है।

सहसा द्वारपाल ने आकर सूचना दी—महाराज ! मील्हगढ़-नरेश ससैन्य सुसज्जित हैं। प्रस्थान के लिए महाराज की आज्ञा माँगते हैं।

वीरसिंह ने आश्चर्य के साथ मैदान की ओर वाली खिड़की खोल कर देखा, सचमुच मील्हगढ़ की सेना पंक्ति-बद्ध होकर सेनापति की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही है।

वीरसिंह झटपट बाहर आए। महाराज चन्द्रसिंह ने कुछ आगे बढ़ कर मुसकराते हुए उनका स्वागत किया। वीर-सिंह ने कुछ देर स्तम्भित रह कर कहा—आपने इतनी जल्दी ×××

चन्द्रसिंह ने मुसकरा कर बीच में ही कहा—"महा-राज ! कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुष अवसर की प्रतीक्षा नहीं करते।" अभी चन्द्रसिंह वाक्य समाप्त भी न कर पाए थे कि दाहिनी ओर से बहादुरसिंह, नवलसिंह, विक्रमसिंह तथा मेघसिंह द्रुतगति से आते हुए दिखाई दिए। महाराज वीरसिंह ने उत्सुकता तथा अधीरता के साथ कुछ आगे बढ़ कर चारों अय्यारों का स्वागत किया। समस्त सैनिकों तथा राज-कर्मचारियों की दृष्टि चारों अय्यारों की ओर फिरी। सब लोग उनका सम्बाद सुनने के लिए अधीर हो उठे। बहा-दुरसिंह को कुछ कहने का अवसर दिए बिना ही चञ्चल नवलसिंह बोल उठे—महाराज ! राजकुमारी इन्दु का पता मिल गया है।

वीरसिंह ने परिवर्द्धित कौतूहल तथा आनन्द के साथ कहा—"कहाँ ? कर्मागढ़ में ?" बहादुर ने गम्भीर होकर कहा—"महाराज का अनुमान सत्य है। परन्तु महाराज को इसकी सूचना कैसे मिली ?"

वीरसिंह—"पहले तुम आपबीती कह सुनाओ।" बहादुरसिंह ने सब लोगों के कौतूहल को शान्त करते हुए

गम्भीर स्वर में आदि से अन्त तक समस्त घटनाएँ क्रमशः कह सुनाईं।

चन्द्रसिंह ने उत्साहपूर्वक वीरसिंह से कहा—अब तो आपको किसी प्रकार का सन्देह न रह गया होगा। निश्चय ही राजकुमारी कर्मागढ़-नरेश के अधिकार में है। अब आप अपने अय्यारों को विश्राम करने की आज्ञा दीजिए। उन्होंने अब अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है। अब मेरी रण-पिपासा और भी अधिक तीव्र हो उठी है। शीघ्र ही कर्मागढ़ की भूमि पर रणचण्डी का उन्मत्त ताण्डव होगा। आप मुझे सहर्ष प्रस्थान के लिए आज्ञा दीजिए।

चन्द्रसिंह के निश्चय के आगे महाराज वीरसिंह को झुकना पड़ा। उनके अनेक अनुनय-विनय करने पर भी चन्द्रसिंह ने उनकी सहायता लेना स्वीकार न किया! × × × चन्द्रसिंह की वीर सेना ने रण-दुन्दुभी बजाते हुए कर्मागढ़ की ओर प्रस्थान कर दिया। दीयागढ़-नरेश भगवान का आश्रय लेकर चन्द्रसिंह की विजय-कामना करते हुए दिन गिनने लगे।
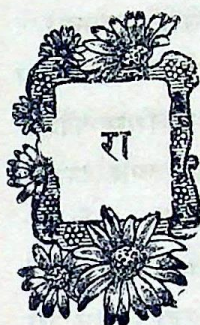
त अभी आधी से अधिक नहीं बीती। कृष्ण-पक्ष की अष्टमी तिथि है। निद्राभिभूत संसार कुछ समय के लिए मानो जीवन की चिन्ताओं से मुक्त हो गया है। विश्व-प्रकृति शान्त है। यहाँ तक कि पवन भी स्थिर है। चारों ओर तमिस्रा का साम्राज्य फैला हुआ है। केवल आकाश में तारे टिमटिमा रहे हैं, रात्रि 'सायँ-सायँ' कर रही है। सिर्फ़ लावारिस कुत्तों की 'भों-भों' आवाज़ ही कभी-कभी उसकी निस्तब्धता को भङ्ग कर देती है। रात्रि की इस एकान्त घटिका में कर्मागढ़ के राज-प्रासाद के एक निभृत कक्ष में इन्दु—राजकुमारी इन्दुमती—एकाकिनी बैठी हुई है।

राजप्रासाद का वह कक्ष ख़ूब सजा हुआ है। दीपकों के आलोक से वह जगमगा रहा है। दुग्ध के समान उज्ज्वल मर्मर की दीवालों पर चारों ओर बड़े-बड़े तैल-चित्र शोभायमान हैं। चित्र ऐसी व्यवस्था से लगाए गए हैं कि कोई

नीचे ऊपर या विशृङ्खल नहीं हैं। उनको देखते ही सजाने वाले के गृह-सज्जा-ज्ञान का परिचय मिल जाता है। चित्रों से चार अङ्गुल नीचे चारों ओर रङ्गीन प्रस्तरों के योग से एक सुन्दर बेल-बूटा बनाया गया था, जो उस कर्पूर-कार्पासोज्ज्वल भित्ति के वक्षस्थल पर ऐसा जान पड़ता था मानो सफ़ेद रङ्ग के पशमीने पर किसी काश्मीरी कामिनी के कमनीय कोमल करों ने कसीदा काढ़ा हो। यथार्थ में शिल्पियों ने इन बेल-बूटों की रचना में अपने शिल्प-कौशल की पराकाष्ठा दिखलाई थी। छत पर झाड़ और फ़ानूस टँगे हैं। किसी झाड़ पर हरे पत्ते और फलों के गुच्छे भी लगे हैं। आलोक में वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो रस से भरे हुए टटके फल ही लाकर टाँग दिए गए हों। छत पर सुनहली नक्काशी का काम भी दर्शनीय था। उसी प्रकार फ़र्श भी अनूठा था। उस पर ऐसी-ऐसी बेलें काढ़ी गई थीं कि वे डहडहाती हुई सच्ची बेलें जान पड़ती थीं और उनके कुचले जाने की आशङ्का से नवागन्तुक व्यक्ति एक बार अपने पैर पीछे हटा लेते थे। बेलों के सिवा उस पर नक्काशीदार त्रिभुज, चतुर्भुज, वर्तुल आदि विविध आकार के क्षेत्र बनाए गए थे। उनको देख कर ऐसा जान पड़ता था मानो कोई ललना अभी-अभी चौक पूर कर गई हो। एक ओर क़ीमती गलीचे पर मखमली क़ालीन और गद्दे सजे थे, जिस पर चाँदी के चार चोबों के सहारे कारचोबी

का काम वाला चँदोवा तना था। दूसरी ओर एक मसहरी-दार पर्यङ्क था, जिस पर बालिश्त भर मोटी, उज्ज्वल, दूध के झाग के समान सुकोमल शय्या बिछी थी और झालरदार छोटी-बड़ी कई तकियाएँ रक्खी थीं। मेज़ों पर आवश्यकता की सम्पूर्ण वस्तुएँ धरी थीं। परन्तु राजप्रासाद का यह सुसज्जित कक्ष आज इन्दु के लिए कारागृह बना है। वह पिञ्जर-बद्ध कीर की नाईं उस कक्ष में अपने भाग्य को कोस रही है। कक्ष की साज-सज्जा उसे सुख पहुँचाने में नितान्त असमर्थ है। आज उसके व्यथित-पीड़ित हृदय को चिराग़ आग सा जलाता है, फूल शूल से बेधते हैं, आभूषण दूषण से जान पड़ते हैं और शृङ्गार भार सा प्रतीत होता है। रात-दिन उसे अपने पितृ-गृह का ही ध्यान रहता है। माता-पिता का वात्सल्य, सहचरियों का मधुर सम्भाषण और उलाहना तथा दासियों की सेवा का उसे निरन्तर स्मरण हुआ करता है। पितृ-प्रासाद का ऐश्वर्य, राजबाटिका का सौन्दर्य, क्रीड़ाङ्गण का विनोद, एकेक कर उसके स्मृति-पथ पर से गुज़रते और उसे व्याकुल कर देते थे। बाटिका के दृश्य—चमेली का कुञ्ज, जूही का पुञ्ज, कलियों का विकास, फूलों का हास, भ्रमरों की क्रीड़ा, लता-बल्लियों की व्रीड़ा, उसके नेत्रों के आगे आकर झूलने लगती थी। उसे याद आती थी धानी रङ्ग की साड़ी पहिने क्यारी पर खड़ी प्यारी-प्यारी पत्तियों

से बुलाती हुई वह सुकुमारी वकुल-विटपी, जिसे उसने हाल ही में अपने हाथ से लगाया था। वह उस विटपी को अनेक दासियों के रहते हुए भी स्वयं ही सींचा करती थी। क्यारी में गिरे हुए सूखे पत्तों को निकाल कर स्वयं फेंकती और उसकी छोटी-छोटी शाखाओं को अपने कोमल करों से बड़े प्यार से स्पर्श करती थी। वह मन ही मन कहती थी—'मेरी विटपी, तू मुझे अपने निकट एक बार भी न देख कर क्या सोचती होगी ? तू सोचती होगी, वह कैसी कठोर और निर्दय-हृदय है, जो आज कई दिनों से मेरी सुध न ली। पर मैं कैसे बताऊँ कि तेरे लिए मेरा हृदय आज कैसा हो रहा है।'

इन्दु अपनी बड़ी बहिन चन्द्रावती को प्राणों से भी प्यारी थी। उसी प्रकार वह भी दीदी को जी से चाहती थी। चन्द्रावती इन्दुमती के वियोग से अत्यन्त दुखित थी, उसी प्रकार चन्द्रावती से बिछुड़ने का इन्दु को भी आन्तरिक दुःख था। क्यों न हो, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। प्रेम से प्रेम और घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। प्रेमिकों में एक दूसरे के लिए सहज आकर्षण होना अस्वाभाविक नहीं। दो प्रेमी हृदयों में से एक जो कुछ अनुभव करेगा, वह दूसरा भी करेगा। यह सम्भव नहीं कि एक ओर वियोग-दुःख हो और दूसरी ओर न हो। चन्द्रावती के वियोग से इन्दु की जो दशा हो रही थी, उसका वर्णन करना कठिन

है। लेखक की लेखनी में वह सामर्थ्य नहीं कि वह उसका यथार्थ शब्द-चित्र प्रस्तुत कर सके।

इन्दु ने अभी-अभी एक स्वप्न देखा है, जिससे उसका हृदय विचलित हो उठा है और वह विपन्न-वदना बैठी हुई अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मोतियों के समान अश्रु-विन्दु गिरा रही है। स्वप्न में उसने देखा—"वह अपनी दीदी के साथ पितृ-प्रासाद के अन्तःपुर में बैठी हुई है। दासियाँ कुमारियों के जूड़े खोल कर वेणी-ग्रन्थन की तैयारी कर रही हैं। उन्मुक्त केश-राशि कुमारियों के पृष्ठ और नितम्ब-देशों से होकर बिछी हुई शीतलपट्टी को छू रही है। दोनों बहिनें एक-दूसरे के केश-कलापों को परस्पर छूकर उनकी चिक्कनता, श्यामता और दीर्घता में सम्पूर्ण साम्य अनुभव कर हर्षित हो रही हैं। शृङ्गारदान सामने रक्खा है। दासियों ने क्रमशः आईना रक्खा, हाथीदाँत की कङ्घियाँ निकालीं, सुगन्धित तैल की महक से अन्तःपुर आमोदित हो उठा। केश-विन्यास होने लगा। दोनों बहिनें बड़ी अन्तरङ्गता से बातें करती जाती थीं। कभी हँसती थीं, कभी मुसकुराती थीं। चन्द्रावती बीच-बीच में इन्दुमती की केश-रचना में स्वयं योग दिया करती थी। केश-विन्यास पूरा हो जाने पर आँखें कज्जलित की गईं और भाल देशों पर बिन्दियाँ लगाई गईं। ठीक इसी समय एक परिचारिका फूल गूँथ कर ले आई। चन्द्रावती के जूड़े में फूल लगाए

जा चुकने पर उसने दूसरा ग्रथित पुष्प इन्दुमती के जूड़े में स्वयं बाँधा। फिर उसकी ठोढ़ी पकड़ कर कहने लगी—बहिन, दर्पण में देख तो सही, कैसा सुन्दर रूप है, इसकी समानता करने वाला यदि है तो बस यही है।"

ठीक इसी समय इन्दुमती की आँखें खुल गईं। उसने देखा, न पितृ-प्रासाद का अन्तःपुर है, न दासियाँ हैं और न दीदी चन्द्रावती। कर्मागढ़ के राजप्रासाद के सुनसान कक्ष में वह क़ैद है। बाहर अँधेरी रात सायँ-सायँ कर रही है। उस समय इन्दुमती को कितना दुःख, कितना सन्ताप हुआ होगा, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं।

इसी समय अष्टमी का चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। उसके उदय होते ही संसार के अन्धकार का संहार हो गया, पर इन्दुमती के हृदय का वियोगान्धकार इस समय भी ज्यों का त्यों ही बना रहा। इन्दु ने खिड़की से झाँक कर देखा, बाहर चन्द्रमा की रजत-धवल चन्द्रिका चहुँओर फैली हुई है। वृक्ष पतझड़ के कारण दिगम्बर रूप धारण कर खड़े हैं। प्रकृति शान्त भाव से स्थित है। पर इन्दुमती के अशान्त मानस को शान्ति नहीं मिली। उसे अपने स्वप्न की बात बिसरती ही न थी। वह अपनी दीदी के लिए फूट-फूट कर रोने लगी। दीदी, किस पाप के फल से आज मुझे यह कष्ट भोगना पड़ा है। मैंने किस अनुरक्त हृदय को उसके स्वजन आत्मीयों से विमुक्त किया था, जो आज मुझे

यह वियोग-दुःख सहना पड़ा है ? विधाता ने मुझे जीवन में जितना सुख प्रदान किया, उससे कई गुना अधिक आज दुःख दिया। दीदी, इस दुःख की अवधि कब समाप्त होगी, तुम मुझे फिर कब अपने अङ्क में लोगी, तुम्हारा सुन्दर मुख देखने को मेरी आँखें तरस रही हैं, कान तुम्हारे सरस शब्द सुनने को उत्सुक हैं, तुमसे अन्तर की बात कहने के लिए मेरा हृदय आज आतुर हो रहा है। किन्तु दीदी, आज मैं तुमसे बिछुड़ कर यहाँ बन्दी हूँ। सम्भव होता तो उड़ कर तुमसे इसी क्षण जा मिलती और तुम्हारे गले में भुजाएँ डाल जी भर रोकर अपना हृदय हलका करती। इन्दुमती का रुदन सुन कर खिड़की के सामने वाले वृक्ष का हृदय विचलित हो उठा। उसने अपने पत्तों को हिला कर रुदन बन्द करने का सङ्केत किया, और उसे धीरज बँधाया।

अब रात्रि शेष होने पर थी। अरुण-शिखा की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। शीघ्र ही प्राची में ऊषा सुन्दरी अरुण रङ्ग की चूनरी धारण कर मुसकुराती हुई आ पहुँची। उसके भाल-देश को किसी ने बालार्क-सिन्दूर-बिन्दु से भूषित कर दिया। इन्दुमती को कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। उसने मन में कहा, रात्रि कटी, अब दिन आया, पर मेरे हृदय की वियोग-रात्रि तो वैसी ही बनी है।

हाँ, अभी-अभी बालार्क किरणों ने अपना स्वर्ण-वैभव वितीर्ण करना आरम्भ ही किया था कि इन्दुमती एकाएक

चौंक कर उठ बैठी। उसकी दृष्टि उस खिड़की के नीचे पड़े हुए एक सुन्दर लिफ़ाफ़े पर जा पड़ी, जिसके पीछे सुरम्य वाटिका लगी हुई थी।

इस निभृत प्रकोष्ठ में, उस लिफ़ाफ़े को देख कर इन्दुमती आश्चर्य में आ गई। यह यहाँ कैसे आया! इतने कड़े पहरे के बीच कौन इसे लाकर रख गया ? इसमें कर्णसिंह की ही कोई चाल तो नहीं है ? लिफ़ाफ़ा देखने में बड़ा सुन्दर है। कर्णसिंह भी कम सुन्दर नहीं है। पर इससे क्या ? मनोहर स्वच्छ तुषार क्या पद्म-पुष्प को जला नहीं डालता ? रहे, जहाँ पड़ा है वहीं पड़ा रहे। मैं इसे न छूऊँगी।

सोचने को तो इन्दुमती बहुत कुछ सोच गई। पर वह अपना कौतूहल किसी तरह दमन न कर सकी। कुछ ही देर बाद उसने उठ कर लिफ़ाफ़ा उठा लिया। देखा—सुनहरे बेल-बूटों के भीतर किसी ने विरह-क्षीण इन्दु की छवि अङ्कित कर, उसी पर उसका नाम मनोहर अक्षरों में लिख दिया है।

उसकी कौतूहलपूर्ण दृष्टि ने और भी देखा—उस लिफ़ाफ़े पर बने हुए सुरुचिर लता-मण्डप के भीतर एक ओर अत्यन्त छोटे-छोटे अक्षरों में लिखा है—"मदनसिंह।" इन्दुमती हाथ में लिफ़ाफ़ा ले, चकित चितवनों से उसकी ओर देखती हुई सोचने लगी—मदनसिंह ! कौन मदनसिंह !

इस नाम के किसी पुरुष को तो मैं नहीं जानती। कभी यह नाम सुना भी नहीं। फिर यह पत्र भेजने वाला मदन-सिंह कौन है ?

उसने बहुत धीरे से, एक ओर से वह लिफ़ाफ़ा खोल डाला। लिफ़ाफ़े के भीतर एक पत्र था और एक चित्र। पत्र में इतना ही लिखा था :—

"प्राणाधिके ! तुम इस समय घोर विपत्ति में जा पड़ी हो। पर जानती हो, सोना तपाने से ही खरा होता है। समझ रखना, यह तुम्हारे आत्मबल और धर्मबल की अग्नि-परीक्षा है। घबराना मत। शीघ्र ही तुम्हारा उद्धार होगा।—तुम्हारा मदन।"

पत्र पढ़ते-पढ़ते ही कई बार इन्दुमती की दृष्टि उस चित्र पर जा चुकी थी। अब उसने पत्र बाएँ हाथ में लेकर, दाहिने हाथ में चित्र ले लिया और ध्यान से उसे देखने लगी। देखती-देखती, कुर्सी खींच कर उसी खिड़की के सामने बैठ गई। इस समय उसके बाएँ हाथ में चित्र था, दाहिना हाथ उसके गुलाबी गाल को सहारा दे रहा था और बाल-रवि की सुनहरी किरणें उसके मनोहर मुख-मण्डल पर अठखेलियाँ कर रही थीं।

एकाएक इन्दुमती बोल उठी—वाह ! कैसा देव-दुर्लभ सुन्दर रूप है ! कितनी वीर-दर्प-मण्डित पर कमनीय कान्ति है। ऐसा रूप क्या इस धरातल के जीव पा सकते

हैं ? यह प्रतिभा-प्रभा-प्रकाशित उन्नत ललाट क्या कभी मानव-समाज में दिखाई देता है ? विशाल वक्ष बहुत देखे—पर यह तो ऐसा मालूम होता है, मानो इसमें वीरता का सागर भरा है, जिस पर उदारता और प्रेम की उत्ताल तरङ्गें उठ-उठ कर, इसे ऊँचे उठा रही हैं। नहीं-नहीं, यह इस मर्त्यलोक का रूप नहीं है। किसी छलिया ने मुझे छलने के लिए यह स्वाँग रचा है। किसी चतुर चितेरे की यह कुटिल करामात है।

इन्दुमती ने चित्र उसी खिड़की पर रख दिया, चञ्चल हो कुर्सी से उठ खड़ी हुई, कुछ क्षण तक अपने दाहिने हाथ की तर्जनी ठुड्डी पर रक्खे, कुछ सोचती रही। उसने अपनी दृष्टि बरबस ही उस चित्र की ओर से हटा ली, पर यह कुछ ही क्षण के लिए—इसके बाद ही उसने झपट कर वह चित्र उठा लिया। बोली—"यह धूप नहीं सह सकेगा, बिगड़ जायगा।" चित्र उठाते समय इन्दुमती का मुख-मण्डल ठीक वैसा ही हो रहा था, जैसा प्रथम रवि-रेखा के स्पर्श से कमल का हो जाता है।

हाथ में चित्र आते ही, इन्दुमती की आँखें फिर उस पर जा अटकीं। वह जहाँ खड़ी थी—जिस भाव से खड़ी थी—बहुत देर तक वैसी ही खड़ी रही। इसके बाद न जाने क्यों, उसके अन्तःस्थल से, आप ही आप एक ठण्ढी साँस निकल पड़ी, दो बूँद आँसू भी ढुलक पड़े। वह हट कर अपने उसी कारु-कार्य-युक्त स्वर्ण-पर्यङ्क पर पैर लटका कर

जा बैठी। उसके हाथ में चित्र था, दृष्टि उसी से उलझ रही थी। धीरे-धीरे उसकी आँखें इस तरह बन्द हो गईं, मानो वाह्य जगत की इस मनोज्ञ मूर्ति को, अन्तर्जगत् के हृदय-सिंहासन पर बैठा कर, वह मन ही मन मानस-पूजा कर रही है। ऐसा ही होता है—समय पाकर वाह्य जगत की सारी विभूतियाँ सूक्ष्म रूप धारण कर अन्तर्जगत् में ही विलीन हो जाती हैं।

इसके बाद अपने उन्नत उरोजों के मध्य भाग में बाएँ हाथ के नीचे उस चित्र को छिपा कर वह लेट रही। उसकी आँखें अब भी पलकों की ओट में हैं, उसके पैर अब भी पलङ्ग के नीचे लटक रहे हैं। इन्दुमती न जाने क्या-क्या सोचती हुई सो गई है। हम इतना ही कह सकते हैं कि इस समय उसमें रात्रि की भाँति वह विकलता, चञ्चलता और अन्यमनस्कता नहीं है। यह भी बता सकते हैं कि अब वह रह-रह कर काँप नहीं उठती है। उसके निद्राभि-भूत मुख-पद्म पर विषाद का चिन्ह अब नहीं है और न उसके चारु लोचन ही रह-रह कर खुल जाते हैं, बल्कि इसके बदले उसके अरुण अधरों पर मधुर मुसकान की रुचिर रेखा उत्पन्न होकर, उन्हें उसी तरह विलग कर देती है, जिस तरह प्रथम अरुण-प्रभा अधखिली गुलाब की कलियों की पङ्खड़ियों को।

दिन चढ़ आया। दिनमणि की उन सजीली किरणों

ने प्रखर रूप धारण करना आरम्भ कर दिया। पर इन्दुमती उसी तरह सोई रही। मानो बाह्य जगत की उसे सुधि-बुधि ही न थी। एकाएक उस कमरे के किवाड़ खुल गए और कर्णसिंह ने बड़ी शान से उस कमरे में प्रवेश किया। वे सीधे उस पलँग तक दबे पाँव चले गए, जिस पर पड़ी हुई इन्दुमती इस समय न जाने कितने सुख-स्वप्न देख रही थी। कौन कह सकता है कि वह इस समय अन्तर्जगत् की किस भावना से आनन्द-विहार कर रही थी।

कुछ देर तक कर्णसिंह उसके खिले हुए मुख-पद्म की सौन्दर्य-सुधा पान करते रहे। पर क्या रूप-माधुरी को निरख-निरख कर कभी ये नेत्र भी अघाते हैं। वे और भी न जाने कितनी देर तक उसी रूप-सरिता में ग़ोते लगाते रहते, पर एकाएक उनकी दृष्टि इन्दुमती की छाती पर पड़ी और हाथ के नीचे दबे हुए उस चित्रपट पर जा पड़ी। तुरन्त ही उनके शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। मन में एक दूसरी ही आशङ्का लहर मारने लगी। उस पर ईर्ष्या की चादरें पड़ने लगीं। कर्णसिंह भँवर में जा पड़े। पर तुरन्त ही उन्होंने अपने को सम्हाला। झपट कर चित्र उसकी छाती से खींच लिया। 'हाँ-हाँ' करती इन्दुमती भी उठ खड़ी हुई, पर चित्र इस समय कर्णसिंह के हाथ में था। उनकी आँखों में ईर्ष्या की ज्वाला धधक रही थी। ओंठ काँप रहे थे और चेहरा तमतमा उठा था। उन्होंने गरज कर कहा—मेरी
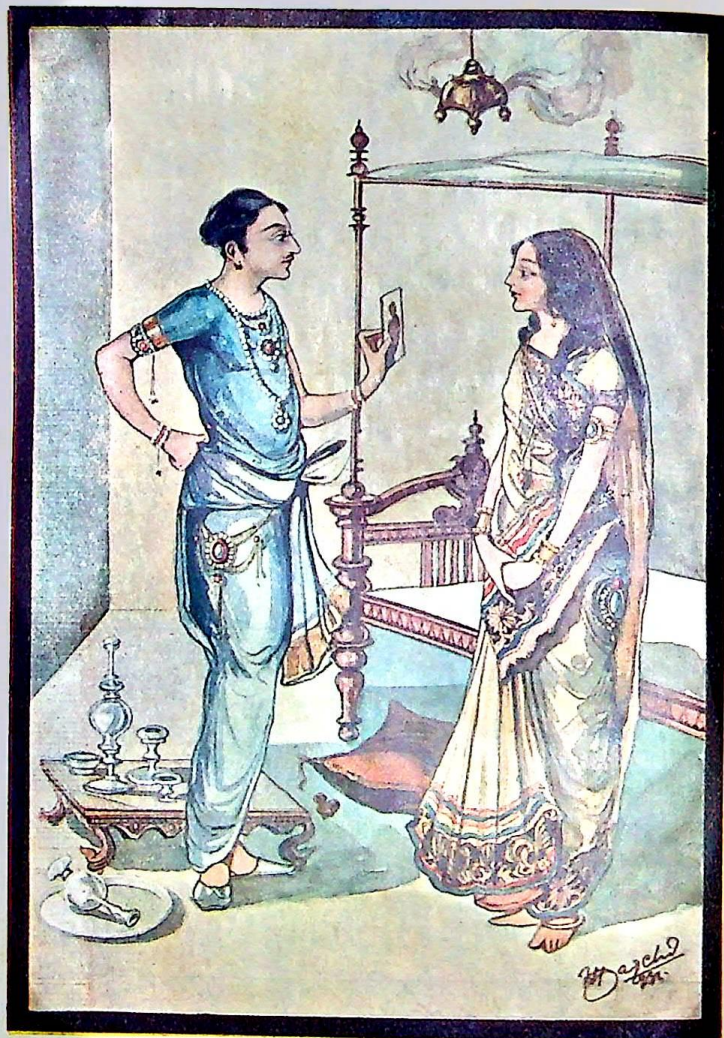
“ × × × उसने इन्दुमती की ओर कुटिल दृष्टि से देखते हुए कर्कश स्वर में कहा—इन्दु ! यह चित्र तुम्हारे पास कैसे आ पहुँचा ?”—[पृष्ठ १९७]

FINE ART PRINTING COTTAGE
ALLAHABAD

[चित्रकार—श्री० एच० बागची

राह का रोड़ा मदन ! इसे तो मैं क्षण भर में उसी तरह मसल दूँगा, जिस तरह राह चलते पथिक वन्य कुसुमों को अनायास ही रौंदते-मसलते चले जाते हैं ।

इन्दुमती चकित हरिणी की भाँति कर्णसिंह का ईर्ष्या-दग्ध मुख करुण नेत्रों से देखने लगी । उसने देखा, इस चित्र को देखते ही कर्णसिंह आपे से बाहर हो गए हैं । उन पर प्रतिहिंसा का भूत ताण्डव कर रहा है । उनकी आँखें अङ्गारे सी लाल हो रही हैं ।

कुछ देर तक कर्णसिंह उस चित्र को देखता हुआ मन ही मन कुछ बड़बड़ाता रहा । इसके बाद उसने इन्दुमती की ओर कुटिल दृष्टि से देखते हुए कर्कश स्वर में कहा—इन्दु ! यह चित्र तुम्हारे पास कैसे आ पहुँचा ?

इतनी देर में इन्दुमती बहुत कुछ सावधान हो चुकी थी । वह समझ गई थी कि विपत्ति का पहला काला मेघ हटते न हटते यह दूसरा आ पहुँचा है । अब इससे डरने से काम न चलेगा । तमक कर बोली—तुमने यह चित्र मुझसे क्यों छीन लिया ? इस पर तुम्हारा क्या अधिकार है ?

कर्णसिंह ने व्यङ्ग से कहा—क्या अधिकार है ! इन्दु, अधिकार की बात न पूछो । बताओ, सूर्य को पृथ्वी का रस शोषण करने का क्या अधिकार है ? भ्रमर किस अधिकार पर फूलों का रस पान करता फिरता है ? चपला किस अधिकार के बल पर चमक-चमक कर डराया करती

है ? इन बातों को छोड़ो—यह बताओ, यह चित्र तुम्हें कैसे मिला ?

इन्दुमती बोली—मेरा चित्र मुझे दे दो। इस पर हाथ लगाने की स्पर्धा न करो। मुझे चोरी से मँगवा कर तुमने जो पाप किया है, जिस तरह अपने राजकुल की कीर्ति में कलङ्क लगाया है, इस चित्र को लेकर उस पाप को और न बढ़ाओ, वह कलङ्क-कालिमा और भी गहरी न करो।

कर्णसिंह ने झल्ला कर कहा—यह चित्र तुम्हें अब न दूँगा। मैं समझ गया हूँ, यह मेरे पथ का कण्टक है। इसी कण्टक के कारण तुम मेरी बात मानने के लिए तैयार नहीं हो। मैं अब इस कण्टक को दूर करके ही तुम्हें अङ्कशायिनी बनाऊँगा।

एकाएक इन्दुमती सिंहनी की तरह तड़प उठी। गरज कर बोली—ख़बरदार दुष्ट! दुर्बल को सताने की चेष्टा न कर, नहीं तो यह सारा अधिकार और ठाट-बाट क्षण भर में धूलिसात् हो जायगा।

इतना कह कर्णसिंह के हाथ से वह चित्र छीनने के लिए इन्दुमती झपट पड़ी। कर्णसिंह दो क़दम पीछे हट गए। उन्होंने फुर्ती से उस चित्र के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इसके बाद गरज कर बोले—तुम सहज में मानने वाली नहीं हो। अब तक तुम्हें बड़े आराम और प्यार से रक्खा है; परन्तु नहीं, बिना कष्ट पाए तुम मेरी बात न मानोगी।

और इस मदन को (दाँत पीसते हुए कर्णसिंह ने कहा)— इसे रसातल पहुँचाने में क्षण भर का भी विलम्ब न करना चाहिए।

परन्तु इस समय इन्दुमती में ये बातें सुनने का ज्ञान ही न था। अपने पुर-परिजन से बिछुड़ने की ज्वाला उसके हृदय को दग्ध कर ही रही थी, यह चित्र फटता देख, वह दुःख से और विह्वल हो उठी। उसका कुसुम-कोमल हृदय यह आघात सहन न कर सका। वह तुरन्त ही बेहोश हो, उसी पलँग पर गिर पड़ी।

कर्णसिंह खड़े-खड़े थोड़ी देर तक उसकी ओर देखते रहे। इसके बाद क्रोध से पैर पटकते हुए उस कमरे से बाहर निकल आए।
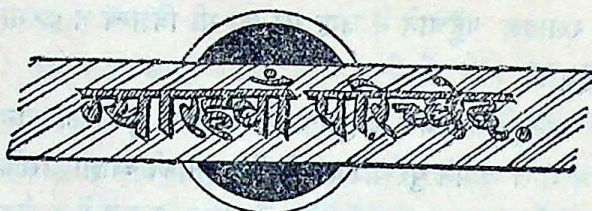
ठीक उसी दिवस, जबकि अष्टमी की रात्रि थी और संसार शान्त था, हम अजय-गढ़ की पहाड़ी के नीचे दो घुड़सवारों को आपस में बातें करते अग्रसर होते देखते हैं। दोनों ही इस समय उस अवस्था पर पहुँच चुके हैं, जिसे हम जीवन का वसन्त-समागम कह सकते हैं। दोनों ही का शरीर भरा हुआ और बलिष्ठ मालूम होता है। दोनों ही समवयस्क और प्रतिभा-सम्पन्न मालूम होते हैं, परन्तु उनमें से एक, जिसका घोड़ा मुश्की रङ्ग का है, जिसके उन्नत ललाट और सौम्य मुख-मण्डल पर कान्ति के साथ ही साथ वीरता भी झलक रही है, किसी ऊँचे कुल का राजकुमार सा मालूम होता है। इसके आजानु लम्बित विशाल बाहु उसकी राज्य-श्री का परिचय दे रहे हैं और उसकी कमर से लटकती रत्न-जटित मियान में झूलती हुई तलवार बता रही है कि मुख-मण्डल की मनोहर कान्ति के साथ ही साथ इसमें

वीरता का गौरव भी सम्मिलित हो रहा है। दूसरा, पोशाक-परिच्छद तथा रङ्ग-ढङ्ग से उसका कोई साथी या मित्र सा मालूम होता है। दोनों बातें करते और घोड़ा बढ़ाते चले जाते हैं।

कुछ दूर आगे बढ़ने पर वह जो राजकुमार सा मालूम होता था, एकाएक बोल उठा—क्यों अरुणसिंह ! क्या मेरा उद्योग निष्फल ही जायगा ? क्या मेरी इच्छा पूरी न होगी ?

अरुणसिंह ने कहा—नहीं राजकुमार ! हताश होने की कोई भी बात नहीं है। उस दिन आपसे विदा होकर जब मैं कर्मागढ़ की ओर रवाना हुआ, उसी समय मुझे पक्का भरोसा हो गया था कि मैं अवश्य ही राजकुमार की इच्छा पूरी कर सकूँगा। इसलिए उस दिन बड़ी चातुरी से मैं बचता हुआ किसी तरह कर्मागढ़ के उस उद्यान के पास जा पहुँचा, जिससे सटा हुआ महल का वह अंश है, जिसमें राजकुमारी इन्दुमती इस समय अपनी विपत्ति की घड़ियाँ गिन रही है। परन्तु उस स्थान पर जाकर मेरी गति रुद्ध हो गई। बाग़ में पहरे का इतना प्रबल प्रबन्ध था कि मैं किसी तरह अग्रसर न हो सका। मैं बहुत देर तक इधर-उधर चक्कर लगाता रहा। अन्त में जब चारों ओर घोर अन्धकार तथा निस्तब्धता का अखण्ड साम्राज्य फैल गया, उस समय मैं फिर उसी फाटक पर जा पहुँचा, जहाँ पहरे का कड़ा प्रबन्ध था। इस बार इस स्थान पर आकर मैंने देखा कि केवल एक

पहरेदार हाथ में बन्दूक़ लिए खड़ा है। बाक़ी घूम-घूम कर पहरा दे रहे हैं। राजकुमार को मालूम है कि मेरे पास कुछ ऐसे गोले बने हुए हैं, जिनसे प्रकाश निकलता है, पर जिनके हाथ में लेते ही वे टूट जाते हैं और उनसे बेहोशी का धुआँ निकल कर उसे हाथ लगाने वाले को तुरन्त ही बेहोश कर देता है। मैंने वह गोला छिप कर ठीक फाटक के सामने रख दिया।

कुछ ही क्षण बाद पहरा देता हुआ, वह फाटक वाला पहरेदार कुछ आगे बढ़ आया। इस चमकीले गोले पर दृष्टि पड़ते ही उसने उसे उठा लिया। इसके दूसरे ही क्षण वह गोला फटा और वह सिपाही तुरन्त ही बेहोश हो गया। इस समय उसके साथी दूर-दूर पर बिखरे हुए थे। मुझे बहुत तेज़ी से काम लेना पड़ा और इसके पहले कि उसके साथी घूमते हुए उस फाटक के सामने आएँ, मैंने फ़ुर्ती से उस बेहोश सिपाही को बाग़ के भीतर खींच लिया और लपक कर दो गोले और भी फाटक के दोनों ओर कुछ दूरी पर रख आया। ईश्वर की दया से मेरी इच्छा पूरी हुई। दो सिपाही और भी, जो शीघ्र ही फाटक के पास आ सकते थे, उन गोलों के प्रभाव से बेहोश हो गए। इस बीच, मैं उस पहले सिपाही की सूरत बना कर दरवाज़े पर खड़ा हो गया, बल्कि उन दोनों बेहोश सिपाहियों को भी होश में लाया। उनकी बात पर मैंने आश्चर्य प्रकट

करते हुए कहा कि मुझे तो कोई गोला न दिखाई दिया। वह पहला सिपाही बेहोश अवस्था में उस बाग़ के कोने में पड़ा था।

दो घण्टे बाद मेरा पहरा बदलने का समय आया। इस बीच मेरी दृष्टि बराबर उसी ओर थी, जिधर राजकुमारी का कमरा है। मैं बराबर देखता था कि राजकुमारी विकल होकर कभी खिड़की के पास आती है, तो कभी फिर बिछावन पर लेटती है। परन्तु कोई उपाय न था। अन्त में जब पहरा बदला और अन्धकार भी कुछ और गाढ़ा हो गया, तब मैं कमन्द के सहारे उस खिड़की तक जा पहुँचा, परन्तु भीतर जाने का कोई पथ न था! खिड़कियों में लोहे के मज़बूत छड़ लगे हुए थे और भीतर भी ख़ूब प्रकाश हो रहा था। अतएव मैं किसी तरह भी राजकुमारी से बातें न कर सका। और वह पत्र उसी खिड़की के नीचे डाल कर चला आया। इसके बाद भी कुछ देर तक आहट लेता रहा, परन्तु मालूम होता है, उस समय चिन्ता की तरङ्गों से घबरा कर राजकुमारी सो गई थी। बस, इतना ही मैं अग्रसर हो सका। यदि यह अवसर मिल जाता कि मैं उस पहरेदार को कहीं अन्यत्र ले जाकर क़ैद करूँ, तो और भी कुछ काम बना लेता, पर मुझे तो उसकी बेहोशी दूर होने के पहले ही वहाँ से लौट आना पड़ा।

राजकुमार मदनसिंह ने कहा, परन्तु इससे तो कुछ

काम न निकला। मैं कैसे समझूँ कि उस पत्र का क्या प्रभाव पहुँचा ? उसका मन किसी दूसरी ही ओर तो नहीं उलझ रहा है। उसके हृदय-पटल पर कोई दूसरा ही चित्र तो नहीं अङ्कित हो चुका है ?

अरुणसिंह ने कहा—यह तो निश्चित है कि कर्णसिंह को वह स्नेह की दृष्टि से बिलकुल ही नहीं देखती। यह भी स्थिर है कि अभी उसके मानस-पटल पर किसी दूसरे की प्रेम-मूर्ति अङ्कित नहीं हुई है, क्योंकि यदि कर्णसिंह को वह प्यार किए होती तो स्वर्ण-पिञ्जर में आबद्ध पक्षी की भाँति नहीं रक्खी जाती। साथ ही किसी दूसरे पर यदि वह अनु-रक्त हुई होती तो राजकुमार की ही तरह कोई दूसरा भी उसके उद्धार के लिए अवश्य ही अग्रसर होता।

मदनसिंह ने एक ठण्ढी साँस लेकर कहा—"हा ! मेरा तो जीवन ही निरर्थक हो रहा है। इस विपत्ति में जब अपनी प्राणाधिका के कोई काम न आ सका तो यह जीवन धारण करने का लाभ ही क्या ?" इतना कहते-कहते राज-कुमार मदनसिंह बहुत ही कातर हो पड़े। वे विकल होकर बार-बार ठण्ढी साँसें लेने और अपने जीवन को धिक्कार देने लगे। बोले—"अरुणसिंह ! मेरे हृदय में एक और भी सन्देह बढ़ रहा है। कहीं वह पत्र कर्णसिंह के हाथों में तो नहीं जा पड़ा। कहीं उस अत्याचारी की दृष्टि उस पत्र पर तो नहीं जा पड़ी, नहीं तो और भी अनर्थ हो जायगा। बेचारी

विपत्ति की सताई इन्दुमती पर एक नई विपत्ति का पहाड़ और भी ढह पड़ेगा। अतएव तुम इसी समय जाओ और जैसे बन पड़े उसकी इस विपत्ति से रक्षा करो।"

अरुणसिंह राजकुमार मदनसिंह की बात सुन कर एकाएक चौंक पड़ा। बोला—राजकुमार! चलिए आपको महल तक पहुँचा दूँ। इसके बाद मैं यहाँ से रवाना हो जाऊँगा, मैं कुछ प्रबन्ध और भी कर आया हूँ।

मदनसिंह ने कहा—नहीं, अभी तो थोड़ी ही रात गई है, मैं चला जाऊँगा। तुम इसी समय जाओ और कल किसी समय यहाँ उपस्थित होकर मुझे समाचार दो कि प्यारी इन्दुमती पर कोई नई विपत्ति तो नहीं आई।

लाचार मदनसिंह को भगवान के भरोसे छोड़, अरुण-सिंह कर्मागढ़ की ओर रवाना हो गया।

रायगढ़ से दक्षिण-पश्चिम बहुत दूर हट कर एक बड़ा ही सुन्दर राज्य बसा हुआ था। इसे चारों ओर से ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ इस तरह घेरे हुई थीं मानो प्रकृति ने इसकी रक्षा के लिए स्वयं ही अपने सुकौशल हाथों से यह सुदृढ़ दुर्ग निर्माण कर दिया था। इसके राजा श्रीमान कन्दर्पसिंह अत्यन्त प्रतिभाशाली नरेश थे। लोगों का कहना था कि इनके राज्य में बाघ-बकरी एक ही घाट पानी पीते हैं। राज्य विस्तृत और धन-धान्य से भरा था। मदनसिंह इन्हीं राजा कन्दर्पसिंह के सुपुत्र थे।

अभी इतना ही परिचय पाकर पाठक सन्तोष करें। समय पाकर इस राज्य का और भी बहुत कुछ परिचय मिलता जायगा।

अरुणसिंह के चले जाने पर मदनसिंह कुछ देर तक उसी ओर देखते रहे, जिधर कर्मागढ़ का पथ गया था। इसके बाद धीरे-धीरे अपने राज्य की ओर लौट पड़े।

इस समय रात्रि धीरे-धीरे अधिक हो चली थी। वह वन-प्रान्त, जिसमें ये दोनों मित्र इस समय बातें करते अग्रसर होते जाते थे, बहुत-कुछ निस्तब्ध हो चुका था। राजकुमार मदनसिंह मन ही मन कुछ सोचते हुए अभी थोड़ी ही दूर आगे बढ़े होंगे कि इनका घोड़ा एकाएक चौंक पड़ा। मदनसिंह के विचारों का प्रवाह रुक गया। वे चौकन्ने होकर अपने चारों ओर देखने लगे, पर उन्हें कुछ दिखाई न दिया।

अभी दो ही चार क़दम और आगे बढ़े होंगे कि घोड़ा फिर भड़का। इसी समय कुछ दूर पर उन्हें कुछ मनुष्यों की आवाज़ जैसी मालूम हुई। मदनसिंह कान लगा कर सुनने लगे, पर कुछ पता न लगा। वे चिन्तित हो पड़े। यह कौन हैं?

मदनसिंह ने मियान से तलवार निकाल ली और घोड़े से उतर पड़े। एक हाथ में घोड़े की बागडोर थामे, दूसरे में नङ्गी तलवार लिए मदनसिंह नीचे देखते हुए आगे

बढ़े ही थे कि उन्हें तारों के क्षीण प्रकाश में ऐसा मालूम हुआ मानो इस वन्य पथ के बीच एक शेर बैठा हुआ है। अब वह घोड़ा भड़कने का कारण समझ गए। घोड़े पर चढ़ कर फिर बन्दूक़ निकाल, गोली मारा ही चाहते थे कि वह शेर झपट कर दूसरी ओर एक झाड़ी के पास चला गया।

मदनसिंह के मन में घोर सन्देह पैदा हो गया। वे सोचने लगे—खाल शेर की अवश्य थी, पर शेर इस तरह नहीं भागता। इस समय चारों ओर अँधेरा छा रहा था, अतएव वे कुछ देख भी न सके। वे सोचने लगे कि क्या करना उचित है। इसी समय उन पेड़ों की झुरमुट से, जिसमें वह शेर भागा था, पत्ते खड़खड़ाने की आवाज़ आई। इसके बाद ही एक हाथ में त्रिशूल, दूसरे में खप्पर धारण किए एक कापालिक बड़ी तेज़ी से इनकी ओर झपट पड़ा। उसके खप्पर से आग की तीव्र लपट निकल रही थी, जिससे वह स्थान उजियाला सा हो रहा था।

उसी प्रकाश में मदनसिंह ने देखा, कापालिक के गले में मुण्डों की माला पड़ी है, माथे में विचित्र जटा है, जिसके हिलने पर आग की चिनगारियाँ झरने लगती हैं।

शेर के बदले इस कापालिक को देख कर मदनसिंह बहुत ही विस्मित हो पड़े। कापालिक बिजली की गति के समान दौड़ता हुआ इनके पास आ पहुँचा। वहाँ पहुँच

कर उसने अट्टहास करते हुए अपना खप्पर जोर से ज़मीन पर पटक दिया। आग की लपट बुझ गई, पर एक प्रकार का तेज़ ज़हरीला धुआँ चारों ओर फैल गया। अब भी उन मुण्डमाला में पिरोए मुण्डों की आँखों से, एक तीव्र प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा था, जिसके सहारे उस कापालिक की भीषण मूर्ति और भी भयङ्कर दिखाई देती थी।

मदनसिंह किंकर्तव्य विमूढ़ से घोड़े पर बैठे रह गए। इसी समय उस ज़हरीले धुएँ ने अपना अद्भुत प्रभाव जमाना आरम्भ कर दिया और कुछ ही क्षण बाद राजकुमार मदनसिंह घोड़े से बेहोश होकर गिरना ही चाहते थे कि कापालिक ने हाथ का सहारा लगा उन्हें धीरे से उतार कर ज़मीन पर लिटा दिया।

तुरन्त ही अगल-बग़ल की झाड़ियों से कुछ मनुष्य बाहर निकल आए। कापालिक उनकी ओर देख कर बोला—इन्हें मीना घाटी में पहुँचा आओ। मैं अभी आता हूँ।

———

याग‌ढ़ के महाराज वीरसिंह से विदा लेकर, राजा चन्द्रसिंह अपनी सेना के साथ प्रबल वेग से कर्मागढ़ की ओर अग्रसर हुए। इस समय अदम्य उत्साह की लहरें उनके मानस-सरोवर पर उठ रही थीं। उनकी प्राणप्रिया चन्द्रावती के विरह कातर नयनों के कटाक्ष ने उनका हृदय नवीन उमङ्गों से और भी भर दिया था। वे अपने सुयोग्य बन्धु और अय्यार शिवसिंह से बातें करते हुए सेना के पीछे-पीछे जा रहे थे। वीर सेनापति दलपतिसिंह बड़ी सावधानी से सैन्य-सञ्चालन करते हुए आगे बढ़ रहे थे।

कुछ दूर आगे बढ़ने पर यह सेना सुरम्य वनस्थली में जा पहुँची। सेनापति दलपतिसिंह की आज्ञा से सेना दो भागों में विभक्त कर दी गई। एक भाग आगे-आगे जाने लगा और दूसरा घूम कर महाराज चन्द्रसिंह के पीछे आ

पहुँचा। इस तरह महाराज को मध्य में लेकर, यह सेना प्रबल वेग से अग्रसर हुई।

एकाएक महाराज चन्द्रसिंह को कुछ स्मरण हो आया। वे बोले—राजदूत महेशसिंह अब तक न लौटा। दुराचारी कर्मागढ़-नरेश ने उस पर कोई अत्याचार तो न किया।

शिवसिंह ने कहा—महाराज! नियमानुसार दूत पर कोई अत्याचार नहीं हो सकता। पर अहङ्कारी कर्मागढ़-नरेश की बात कौन कह सकता है। महेशसिंह का अब तक न लौटना चिन्ता का कारण है।

इसी समय सेनापति दलपतिसिंह भी उस स्थान पर आ पहुँचे। महाराज ने अपनी शङ्का उनसे भी कही। दलपतिसिंह ने वीर भाव से उत्तर दिया—परसों हमारी सेना कर्मागढ़ के प्रान्त भाग में अवश्य पहुँच जायगी। उस समय हम लोग एक साथ ही समस्त अत्याचारों का बदला चुका लेंगे।

शिवसिंह इस समय मन ही मन कुछ सोच रहे थे। एकाएक महाराज ने उनकी ओर देख कर कहा—क्या सोचते हो शिवसिंह?

शिवसिंह ने मुसकुरा कर कहा—महाराज! अय्यारों को टेढ़ी चालें ही सूझा करती हैं। यदि महाराज की अनुमति हो तो मैं अकेला पहले ही आगे बढ़ कर समस्त घटनाओं का पता लगा लूँ और महाराज के लिए

शीघ्र ही जयमाल प्राप्त करने का पथ कुछ और भी प्रशस्त कर दूँ।

इतना कह कर उन्होंने कुछ बातें महाराज चन्द्रसिंह, रणसिंह तथा दलपतिसिंह को समझाईं। शिवसिंह की यह नवीन योजना सुन कर तीनों ही अत्यन्त प्रसन्न हुए। चन्द्रसिंह ने कहा—जाओ शिवसिंह! रणचण्डी के ताण्डव नृत्य का पथ परिष्कार करने में यह योजना बहुत कुछ सहारा पहुँचाएगी।

शिवसिंह प्रसन्न मन से सेना के बीच से बाहर निकल आए। सेना प्रशस्त पथ से अग्रसर हो रही थी, परन्तु शिवसिंह ने तुरन्त ही वह पथ छोड़ वनस्थली के बीच की पतली पगडण्डियों का सहारा लिया। वे तेज़ी से घोर जङ्गल में प्रवेश कर घुमघुमौवे पथ का आश्रय त्याग सीधे कर्मागढ़ की ओर रवाना हो गए।

सन्ध्या होते-होते महाराज चन्द्रसिंह की सेना एक अत्यन्त रमणीक स्थान पर जा पहुँची। इस स्थान की शोभा देख कर महाराज बहुत प्रसन्न हुए। एक ओर हरे-भरे पहाड़ अपने मस्तक ऊँचे उठा कर मानो महाराज की इस प्रबल सेना का निरीक्षण कर रहे थे। उनके उन्नत मस्तकों पर सान्ध्य-किरण की पीत रेखाएँ पड़ कर बड़ा ही मनोरम दृश्य दिखा रही थीं। उसकी उपत्यका में अनेकानेक गिरि-निर्झरों से उत्पन्न एक छोटी सी नदी लहराती

बल खाती हुई बह रही थी। यह स्थान महाराज को बहुत ही मनोरम मालूम हुआ। समस्त दिवस के अकातर परि-श्रम से महाराज भी थक गए थे और सैनिक भी दिनपति के कठिन तपन में दिन भर चलने के कारण विश्राम के लिए लालायित हो रहे थे।

महाराज ने उसी स्थान पर पड़ाव डालने की आज्ञा दे दी। सैनिक आनन्द से अपने-अपने कार्य में लगे और महाराज चन्द्रसिंह, सेनापति दलपतिसिंह को साथ ले, इधर-उधर टहल कर उस रमणीक स्थान का आनन्द लेने लगे।

× × ×

शिवसिंह अन्धकार होने के पहिले ही उस पहाड़ी स्थान से बाहर निकल जाना चाहते थे। उन्होंने अपनी गति और भी तीव्र कर दी और क्रमशः उस पहाड़ी के उस पार जा पहुँचे, जिसकी वजह से प्रधान पथ को कोसों का चक्कर लगा कर आगे बढ़ना पड़ा था। इस पहाड़ी के पीछे ही एक विस्तृत मैदान था, जिसके दूसरे छोर पर एक छोटा सा गाँव बसा हुआ था।

शिवसिंह पहाड़ी से उतर कर उस मैदान में जा पहुँचे और उस गाँव की ओर अग्रसर हुए। दीयागढ़ से सीधी रेखा में कर्मागढ़ पहुँचने के लिए बीच में रायगढ़ राज्य भी पार करना पड़ता है। यह पहले ही स्थिर हो चुका था कि

महाराज चन्द्रसिंह की सेना रायगढ़ की सीमा स्पर्श न करेगी और वह घूमती हुई अन्य पथ से कर्मागढ़ जायगी।

यह गाँव देख कर शिवसिंह की इच्छा हुई कि यहाँ विश्राम कर तब आगे बढ़ें। जिस समय की बातें हम लिख रहे हैं, उस समय इस ग्राम के बाहर एक विशाल शिव-मन्दिर बना हुआ था, उसके आगे ही एक विस्तृत पुष्करिणी थी, जिसमें नाना प्रकार के कमल खिल रहे थे।

शिवसिंह सीधे उस पुष्करिणी के तट पर जा पहुँचे। हाथ-मुँह धोकर वे उस विशाल शिव-मन्दिर में जा घुसे। यह स्थान उन्हें अपनी सूरत बदल लेने के लिए उपयुक्त दिखाई दिया। अतएव मन्दिर के किवाड़ बन्द कर उन्होंने अपनी सूरत एक देहाती सी बना ली। अपने सारे वस्त्रों की एक पोटली बना, उसे छड़ी में लटका कर कन्धे पर रक्खे वे फिर अपनी धुन में आगे चल पड़े।

इस स्थान को पार करने पर फिर उन्हें जङ्गल की ही शरण लेनी पड़ी। सन्ध्या हो गई थी, रात्रि ने अपना अधिकार जमाना आरम्भ ही किया था कि शिवसिंह फिर जङ्गल में घुस पड़े। परन्तु अभी थोड़ी ही दूर और आगे बढ़े होंगे कि एक विशालकाय जटा-जूट धारी साधु एक ओर से उनके सामने आ पहुँचा। उसके चौड़े ललाट पर एक चन्दन का त्रिपुण्ड शोभा दे रहा था। स्वच्छ डाढ़ी नाभि तक लहरा रही थी और माथे की खुली

हुई जटा बढ़-बढ़ कर पीछे से पद-प्रान्त को चूम लेना चाहती थी।

शिवसिंह इस साधू को देख कर ठिठक गए। उन्होंने झुक कर प्रणाम किया। साधू ने आशीर्वाद दिया—मनो-कामना सफल हो।

साधू का आशीर्वाद ग्रहण कर शिवसिंह और भी आगे बढ़ना ही चाहते थे कि उसने पुकारा। बोला—इस अँधेरी रात में इस सिंह-व्याघ्र-पूरित घोर जङ्गल में कहाँ जाओगे ? यदि कोई हर्ज न हो तो रात्रि भर मेरी कुटी में विश्राम करो। सवेरे चले जाना। देहाती, तुम राह में कष्ट पाओगे।

शिवसिंह ने लौट कर अत्यन्त नम्रता से कहा—आपकी कृपा का मैं अत्यन्त ऋणी हूँ, परन्तु एक आवश्यक कारणवश ठहर नहीं सकता, आप क्षमा करें।

साधू बोला—तुम्हारी इच्छा, परन्तु इस अन्धकारमयी रजनी में इस पथ से जाना अच्छा नहीं है।

शिवसिंह आगे बढ़ गए। साधू कुछ देर तक खड़ा-खड़ा उनकी ओर देखता रहा। इसके बाद वृक्षों में छिप कर ग़ायब हो गया।

शिवसिंह अपनी ही धुन में मस्त थे। पथ उनका अपरिचित नहीं था। अतएव वे निर्द्वन्द भाव से आगे बढ़ते चले गए। थोड़ी ही देर में साधु के मिलने और मना करने की

बात भी वे भूल से गए। उनका ध्यान कमोगढ़ की उन्नत अट्टालिकाओं को भेद कर उस कारागार की ओर अग्रसर हो पड़ा, जिसमें बेचारी इन्दु अपने दुःख की घड़ियाँ बिता रही थी।

एकाएक आकाश में बादल घिर आए। तारों की जो क्षीण ज्योति इन्हें पथ दिखा रही थी, वह भी काले तनोवे के नीचे छिप गई। पर इन बाधाओं पर शिवसिंह का ध्यान न था। अय्यारों का जीवन ही ऐसा होता है। भयङ्कर जङ्गल और बीहड़ स्थान तो उनके लिए आनन्द-निकेतन से बने रहते हैं।

धीरे-धीरे आधी रात बीत गई। शिवसिंह अब उस जङ्गल से निकल कर एक पहाड़ी उपत्यका में आना ही चाहते थे कि एकाएक उन्हें अपनी दाहिनी ओर पत्तों की चरमराहट की आवाज़ सुन पड़ी। उनकी दृष्टि उधर ही पलट पड़ी। इसी समय उन्हें आग की चमक सी दिखाई दी। इसके बाद ही उन्होंने देखा कि एक विकरालकाय राक्षस एक स्थान पर खड़ा है। उसके मुँह से रह-रह कर आग की लपट निकल पड़ती है। उसके पैरों के पास एक बहुत ही भयङ्कर व्याघ्र पड़ा हुआ है। राक्षस ध्यान से उस व्याघ्र की ओर देख रहा है। क्षण भर बाद ही उन्होंने देखा कि उसने झुक कर व्याघ्र की पीठ में घुसा हुआ लम्बा छुरा निकाल लिया। छुरा रक्त से तरबतर हो रहा था। इसके बाद ही उसकी

भयङ्कर अट्टहास्य ध्वनि से समस्त वन-प्रान्त काँप उठा। राक्षस विकट हास्य करता हुआ, हाथ में वह नङ्गा छुरा नचाता, इधर-उधर देखने लगा।

एकाएक उसकी दृष्टि शिवसिंह की ओर पलट पड़ी। शिवसिंह को देखते ही हाथ में छुरा ताने वह इनकी ओर झपट पड़ा। शिवसिंह भी सावधान थे। इन्होंने भी तुरन्त ही अपने झोले से एक गोला निकाल लिया और चाहते ही थे कि उसके मस्तक पर दे मारें कि उस राक्षस के मुँह की आग की लपट बहुत तेज़ी से इनके नाक के पास आ पहुँची। क्षण भर बाद ही इनके हाथ का गोला ज़मीन पर लुढ़कता दिखाई देने लगा। और शिवसिंह बेहोश होकर उसी स्थान पर लम्बे हो गए।

इन्हें बेहोश होकर गिरते देख राक्षस बोल उठा—महारानी मेनका देवी की जय!

इसके बाद उसने शिवसिंह की गठरी बाँधी और उसे अपनी पीठ पर लाद तेज़ी से जङ्गल ही जङ्गल एक ओर को रवाना हो गया।

लाँजी राज्य से और भी दक्षिण हट कर, घोर जङ्गल में एक पहाड़ी शिला-खण्ड पर दो नवयुवतियाँ बैठी हुई हैं। चारों ओर निस्तब्धता का अखण्ड साम्राज्य फैल रहा है। दोनों ही रह-रह कर उत्तर की ओर कभी-कभी देख लेती हैं और फिर अपनी चिन्ता में लीन हो जाती हैं। सान्ध्य किरण की पीली रश्मि, वृक्षों पर, फूलों पर और पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियों पर अपनी सुनहरी छटा दिखा-दिखा कर धीरे-धीरे हटती चली जा रही हैं। कभी-कभी अपना-अपना घोंसला खोजने और रात्रि की अवाई की सूचना देने के लिए वन-पक्षी कलरव कर उठते हैं और फिर तुरन्त ही शान्त होकर अपने-अपने कोमल निवास-स्थानों में चुपचाप बैठ जाते हैं।

धीरे-धीरे सन्ध्या हो गई। अपनी प्रखर किरणों से समस्त संसार को तपा देने वाले सूर्यदेव भी यह प्रमाणित

करते हुए कि "सब दिन नाहिं बराबर जात" शीत से क्षीण-तर होकर अस्ताचल की किसी कन्दरा में जा छिपे। आकाश पर अधिकार हुआ रानी रजनी का। वह श्याम साड़ी पहन आकाश राज्य के तारका-मण्डित दरबार में आना ही चाहती थी कि एक ओर से प्रकृति ने घूँघट डालने के लिए घटाओं की काली चादर भेज दी। काले में काला मिल गया और समस्त संसार पर भी तमोगुण का घोर श्याम चँदोवा तन गया।

उस शिला-खण्ड पर बैठी हुई उन दोनों स्त्रियों में से एक बोल उठी—बहिन सरला! सन्ध्या हो गई। आकाश में बादल भी घिर आए, पर अभी तक सुजनसिंह का पता नहीं है।

सरला बोली—कहीं फँस गए होंगे। पर महारानी ने तो वृथा ही यह बला अपने सिर ली है। बहिन ललिता! मैं सत्य कहती हूँ, कहीं लेने के देने न पड़ जाएँ।

ललिता ने मुसकुरा कर कहा—यह प्रेम का पथ ही निराला है। इसमें हानि-लाभ का विचार तो उसी तरह ग़ायब हो जाता है, जिस तरह हवा के झोंके में बादल। राजकुमार चन्द्रसिंह भी साधारण पुरुष नहीं हैं। वह रूप जिसने देख लिया है, वही न्योछावर हो गया है।

सरला—पर इससे क्या होता है। × × ×

अभी वह कुछ और कहना ही चाहती थी कि इसी

समय उसे कुछ दूरी पर पत्तों की चरमराहट की आवाज़ सुन पड़ी। इस आवाज़ को सुन कर दोनों ही सावधान हो गईं। कुछ ही क्षण बाद उन्होंने देखा कि एक विकराल-काय भीषण आकृति का राक्षस उनकी ओर ही आ रहा है। उसका यह विकट रूप देख कर दोनों ही अपने स्थान से उठ खड़ी हुईं। सरला ने अपने आँचल के भीतर से एक तमञ्चा निकाल लिया। ललिता भी एक गोला हाथ में लेकर खड़ी हो गई।

कुछ ही क्षण में वह राक्षस सीधा इनके पास आ पहुँचा। यहाँ आकर वह ध्यान से कुछ देर तक ललिता और सरला की ओर देखता रहा। इसके बाद उसने एक इशारा किया। ललिता कुछ समझ गई। उसने सरला के कान में धीरे से कुछ कहा। अब वह राक्षस आगे बढ़ा। ये दोनों भी उसके पीछे अन्धकार में कुछ दूर तक चली गईं। राक्षस के पीठ पर एक बड़ा सा गट्ठर था और हाथ में चमकता हुआ नङ्गा छुरा, जिस पर खून की धारा लगी हुई थी।

थोड़ी दूर जाकर एक खोह के मुहाने पर वह राक्षस खड़ा हो गया। उसने अपनी पीठ का वह गट्ठर उतार कर ज़मीन पर रख दिया और सरला की ओर देख कर बोला—तुम तो बहुत डर गई थीं, क्या इसी बल पर अय्यारी करने चली हो।

सरला ने हँसते हुए कहा—तुमने अपनी सूरत ही ऐसी बना रक्खी थी। बताओ, यह वेष बनाने की क्या ज़रूरत थी ?

राक्षस बोला—"ऐसा ही काम आ पड़ा था।" इतना कह कर उसने अपने चेहरे से नक़ली चेहरा उतार कर रख दिया। अब सबने स्पष्ट देखा। यह कोई दूसरा नहीं, बल्कि मेनका रानी का अय्यार सुजनसिंह है।

सुजनसिंह ने कहा—अब समय नष्ट करने का अवसर नहीं है। चन्द्रसिंह युद्ध के लिए चल पड़े हैं। शीघ्र ही उनकी सेना कर्मागढ़ पर आक्रमण करेगी। अतएव आप लोगों को क्षण भर का भी विलम्ब न कर, अभी रवाना हो जाना चाहिए।

ललिता—पर इस गठरी में क्या है ?

सुजनसिंह ने गठरी खोल दी। उन दोनों की निगाहें भी उधर ही चली गईं। दोनों ने देखा—इसमें मील्लूगढ़ के प्रसिद्ध अय्यार शिवसिंह हैं।

सुजनसिंह ने कहा—इसे महारानी को उपहार देने के लिए ले आया हूँ। शिवसिंह के हाथ में आने से ही अपना आधा काम बना समझ लो। अब आगे क्या करना होगा, यह ध्यान से सुनो।

इतना कह सुजनसिंह ने बहुत सी बातें ललिता और

सरला को समझाईं । इसके बाद वह गट्ठर फिर पीठ पर बाँध अपने असली वेष में ही उस खोह में घुस गए ।

सुजनसिंह बहुत दूर तक उस खोह में चले गए । मालूम होता है, इस स्थान के प्रत्येक रगो-रेशे से वह परिचित थे । अतः अन्धकार में उस खोह के भीतर अग्रसर होने में उन्हें ज़रा भी अड़चन न हुई ।

यद्यपि इस खोह का मुहाना छोटा था, तथापि वह भीतर से बहुत ही लम्बी थी । अतएव बहुत दूर आगे बढ़ने पर, वह खोह समाप्त हुई । जिस स्थान पर यह खोह समाप्त हुई थी, वह एक प्रकृति की बनाई हुई बड़ी ही मनोरम घाटी थी । इस घाटी को चारों ओर से ऊँचे-ऊँचे पहाड़ घेरे हुए थे । उसमें जाने-आने का पथ वह खोह ही थी, अतएव अनजान मनुष्य तो इस स्थान पर आ ही नहीं सकता था ।

प्रकृति-निर्मित इस सुरम्य घाटी के ठीक बीचो-बीच एक बड़ा ही मनोरम बँगला बना हुआ था, जिस पर रङ्ग-विरङ्गी, फूलों की लहलही लताएँ चढ़ी हुई थीं । इस बँगले के पास जाकर सुजनसिंह ने सीटी बजाई । तुरन्त ही कई नवयुवक बाहर निकल आए । सुजनसिंह ने अपनी पीठ पर की गठरी उनके सुपुर्द कर कहा—इसे हिफ़ाज़त से रक्खो, बेहोशी कड़ी दी गई है, अभी होश में आने के लिए दो-तीन घण्टे की देर है ।

इस समय बादल बरस-बरस कर खुल गए थे। आकाश में चन्द्रदेव हँस-हँस कर अपनी रुपहली किरणें बरसा रहे थे। चन्द्रिका वृक्षों पर, फूलों पर और लता-वल्लरियों पर थिरकती हुई अठखेलियाँ कर रही थी। उसके इस नग्न-नृत्य की शोभा देख-देख कर वृक्ष मस्त हो अपना सिर हिला देते थे।

एकाएक सङ्केतसूचक घण्टी बज उठी। सुजनसिंह अभी थोड़ी देर भी विश्राम न कर पाए थे कि इस सङ्केत-ध्वनि को सुन कर वे तुरन्त उठ खड़े हुए। बोले—आधी रात बीत गई, पर क्या अभी महारानी जग रही हैं? इस घण्टी का और क्या तात्पर्य है?

कुछ ही क्षण बाद एक दासी उसी स्थान पर आ पहुँची। उसे देखते ही सुजनसिंह ने पूछा—यह घण्टी किसने बजाई है?

दासी ने कहा—महारानी ने आपको इसी समय बुलाया है।

सुजनसिंह ने चकित होकर पूछा—महारानी को मेरे आने का समाचार कैसे मिला? वे इस समय कहाँ हैं?

दासी ने कुछ सोच कर कहा—मैं नहीं जानती। आख़िर वे एक तिलिस्म की रानी हैं। किसी तरह पता लग गया होगा। वे अपने गुप्त दरबार-गृह में हैं।

सुजनसिंह उसी समय महल में जाने के लिए तैयार

हो गए। इस घाटी के दक्षिण ओर की पहाड़ी के नीचे एक विशाल मन्दिर बना हुआ है। मध्य में हरगौरी की सङ्ग-मर्मर की बनी भव्य मूर्ति विराज रही थी।

सुजनसिंह शिवसिंह की गठरी अपने एक शिष्य अमर-सिंह की पीठ पर लाद, उस विशाल मूर्ति के सम्मुख जा खड़े हुए। इसके बाद उन्होंने महादेव की प्रस्तर-निर्मित जटा पर हाथ डाल एक खटका दबाया। तुरन्त ही एक तड़ाके की आवाज़ हुई और क्षण भर बाद ही हरगौरी की यह सम्मिलित मूर्ति, बीच से दो भागों में विभक्त होकर आधी पूर्व और आधी पश्चिम की दीवार के पास जा खड़ी हुई।

सुजनसिंह ने अमरसिंह की ओर देख कर कहा—खूब स्मरण रखना, तुम्हें अपना एक विश्वासी मनुष्य समझ कर ही यह पथ बता देता हूँ। अतएव ध्यान से देखते चलो।

मूर्ति के हटते ही उस स्थान पर एक दरवाज़ा निकल आया। सुजनसिंह ने नीचे उतर कर कोई पेंच इस ढङ्ग से दबाया कि दरवाज़ा और भी चौड़ा हो गया। अब अमर-सिंह भी वह गठरी लिए हुए नीचे उतर गया। यह एक लम्बी सुरङ्ग थी, जिसमें कई दरवाज़े और बीच-बीच में कितनी ही कोठरियाँ भी बनी हुई थीं, जिनमें इस समय ताले लगे हुए थे। बहुत दूर तक वे उस सुरङ्ग में चले गए।

इसके बाद ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ मिलीं। कुछ ही देर में वे ऐसे स्थान पर जा पहुँचे, जहाँ दीवार में दो गुलदस्ते जड़े हुए थे, जिन पर रक्खे हुए रङ्ग-बिरङ्गे पुष्प ऐसे मालूम होते थे, मानो अभी बाटिका से तोड़ कर लाए गए हों।

सुजनसिंह ने गुलाबी रङ्ग के एक बड़े से फूल को ऊपर की ओर खींच दिया। फूल अन्दाजन हाथ भर के ऊपर खिंच आया और साथ ही एक झटके की आवाज़ के साथ दीवार में एक दरवाज़ा पैदा हो गया।

जिस समय उस दरवाज़े को पार कर, अमरसिंह, सुजनसिंह के साथ दीवार के उस पार पहुँचा, उस समय रोशनी की जगमगाहट से उसकी आँखें चौंधिया उठीं। उसने देखा कि वह खासा दरबार-गृह है, जिसमें अनेकानेक बहुमूल्य कुर्सियाँ रक्खी हुई हैं। मध्य में रत्न-जटित एक सोने की कुर्सी पर महारानी मेनका देवी बड़े शान-बान से बैठी हैं। उनके अगल-बगल, उनकी कितनी ही सहेलियाँ अर्द्धचन्द्राकार भाव से उन्हें घेरे बैठी हैं। सारा कमरा रोशनी और बहुमूल्य साज-सज्जा से जगमगा रहा है।

महारानी मेनका देवी की अवस्था इस समय लगभग बीस-बाईस वर्षों की होगी। अङ्ग-अङ्ग पर यौवन की बहार थी। उज्ज्वल आलोक के कारण उनकी सलोनी रूप-राशि और भी दमक रही थी।

अमरसिंह को आज तक कभी मेनका रानी को देखने का अवसर न मिला था। वह बराबर सुजनसिंह के साथ रह कर अय्यारी की कला सीख रहा था। इस समय नवागढ़ की इस अतुल ऐश्वर्यशालिनी रानी को अपने सामने पाकर वह चकित, विस्मित तथा आश्चर्यित हो उठा।

मेनका रानी ने सुजनसिंह को देखते ही वहाँ उपस्थित अन्य सहेलियों की ओर कुछ इशारा किया। तुरन्त ही दो को छोड़ कर सब सहेलियाँ उस कमरे को त्याग कर चली गईं। अब महारानी ने सुजनसिंह की ओर देख कर कहा—क्यों सुजनसिंह, क्या कर आए ?

सुजनसिंह ने नम्रता से हाथ जोड़ कर कहा—महारानी, एक बहुत सामान्य उपहार आज सेवा में ला सका हूँ। पर इस उपहार के यहाँ आ जाने पर हम लोगों का पथ बहुत कुछ परिष्कृत हो जायगा। आशा है, शीघ्र ही महारानी की मनोवाञ्छा भी पूरी कर सकूँगा।

मेनका रानी ने ग़ौर से अब उस गठरी की ओर देख कर कहा—इसमें क्या है ?

अमरसिंह ने तुरन्त ही गठरी खोल दी और एक ओर चुपचाप खड़ा हो गया।

मेनका रानी ने पूछा—यह किसे पकड़ लाए हो ?

सुजनसिंह—"महाराज चन्द्रसिंह इन्दुमती के उद्धार के लिए अति शीघ्रता से अपनी सेना के साथ कर्मागढ़ की

ओर अग्रसर हो रहे हैं। शीघ्र ही उनकी सेना कर्मागढ़ पर आक्रमण करेगी। यह मील्लूगढ़-राज्य का अत्यन्त प्रतिभाशाली अय्यार है। महाराज का दाहिना हाथ हो रहा है। अतएव आपका कार्य-सम्पादन करने के लिए इस राह के रोड़े को हटा देना अत्यन्त ही आवश्यक मालूम हुआ।" इतना कह सुजनसिंह ने अपने साधू और राक्षस बनने का सारा समाचार कह सुनाया।

मेनका रानी ने थोड़ी देर तक ध्यान से शिवसिंह के चेहरे की ओर देखा। कुछ सोचती रही। इसके बाद बोली—इसे अत्यन्त सावधानतापूर्वक अपनी घाटी में ही क़ैद रक्खो। पर ध्यान रहे, इसे किसी तरह यह पता न लग जाए कि यह कहाँ और किसके द्वारा क़ैद किया गया है।

सुजनसिंह ने कहा—ऐसा ही होगा। सरला और ललिता भी महारानी के कार्य के लिए जा चुकी हैं। आशा है, वे भी कुछ न कुछ कार्य अवश्य ही कर आएँगी।

जिस स्थान पर यह गुप्त दरबार-गृह बना हुआ था, उसके सामने ही सुरम्य वाटिका लगी हुई थी, जिसमें बीच-बीच में मनोहर फ़व्वारे बने हुए थे। इन फ़व्वारों पर बहुत ही सुन्दर पच्चीकारी का काम किया गया था।

महारानी की कुर्सी के ठीक सामने ही एक वह फ़व्वारा था, जिसमें दो सर्प आपस में लिपटते हुए ऊपर जाकर एक हो गए थे। इस सर्पमुख से ही मोतियों की लड़ी की तरह

जलधारा ऊपर उठ-उठ कर नीचे गिरती थी। इस स्थान पर कुछ अन्धकार सा पड़ता था।

शिवसिंह को क़ैद की आज्ञा देने के बाद ही एकाएक महारानी मेनका की दृष्टि उधर ही जा पड़ी।

एकाएक उसने देखा कि साँप के मुँह से पानी के बदले आग की लपट निकल रही है। सर्प की आँखें इस समय इतनी उज्ज्वलता से चमक रही हैं कि उन पर दृष्टि नहीं जमती और उस फ़व्वारे के नीचे जड़े हुए एक स्याह पत्थर में बड़े-बड़े सुनहरे अक्षरों में लिखा है—"महारानी मेनका ही इस तिलिस्म के नाश का कारण बनेंगी। सावधान !!"

न जाने क्यों इस लेख पर दृष्टि पड़ते ही मेनका रानी एकदम काँप उठीं। वे दौड़ कर उसी ओर चलीं, जिस ओर वह लेख दिखाई दिया था, परन्तु उनके वहाँ पहुँचते-पहुँचते यह सारा दृश्य दृष्टि-पथ से ग़ायब हो चला था। केवल वे ही अक्षर धुँधले होते चले जाते थे।

महारानी को इस तरह दौड़ कर बाहर निकलते देख, सुजनसिंह आदि भी दौड़ कर बाहर निकल आए। उन्होंने भी यह दृश्य अपनी आँखों से देखा। परन्तु क्षण भर बाद ही वहाँ का समस्त दृश्य अन्तर्धान हो गया। फ़व्वारे के चारों ओर बहुत कुछ खोज की गई, परन्तु कुछ नहीं। सारा बाग़ छान डाला गया, परन्तु किसी मनुष्य का कोई चिन्ह भी कहीं दिखाई न दिया।

मेनका रानी हताश हो अपने स्थान पर लौट आईं और सर झुका कर अपनी कुर्सी पर बैठ गईं। उनके चेहरे की वह प्रसन्नता क्षण भर में न जाने कहाँ ग़ायब हो गई और उसके बदले चिन्ता के काले बादल उनके चन्द्र-वदन पर मँडराते हुए दिखाई देने लगे।

न्दुमती—विपत्ति की सताई दुःखिनी इन्दुमती—कर्णसिंह के इस कठोर व्यवहार से बहुत ही मर्माहत हुई। क्षण भर के लिए उसके हृदय-पटल पर आनन्द की जो छबि छा गई थी, अपने कर्कश व्यवहार से कर्णसिंह ने उसे कुचल डाला। वह यह चोट सँभाल न सकी। उसका कुसुम-सा कोमल हृदय इतनी कठोरता, नृशंसता और अत्याचार सहन न कर सका।

बहुत देर तक वह उसी तरह बेहोश पड़ी रही। दिन-मणि अपनी बँधी चाल से आगे बढ़ते ही चले गए। उन्हें इन्दु की ख़बर लेने की क्या ग़रज़ पड़ी थी। क्या कोई भी अपने प्रतिद्वन्दी की विपत्ति में सहायता करता है?

जिस समय इन्दु की बेहोशी दूर हुई, उस समय सूर्य-देव का रथ अर्द्ध-पथ पार कर बहुत दूर बढ़ गया था। वह उठ कर उसी खाट पर बैठ गई। जिसके कोमल पद-

पङ्कज में ज़रा सी कङ्कड़ी गड़ जाने पर कितनी ही सखियाँ उसकी ओर दौड़ पड़ती थीं; जिसके चेहरे पर मधुर मुसकान क्षण भर न दिखाई देने पर उसके माता-पिता विकल हो उठते थे, बहिन चन्द्रा व्याकुल हो उठती थी और सभी सखियाँ उसके मुख पर वही आनन्द-छटा लाने की चेष्टा किया करती थीं—आज वही इन्दु घण्टों बेहोश पड़ी रही, पर कोई भी पूछने वाला न था। बेहोशी से उठते ही प्रातःकाल की समस्त घटनाएँ एक-एक कर उसके मानस-पटल पर उदय होने लगीं। उस लिफ़ाफ़े का मिलना, उसके भीतर से मदनसिंह का मनोहर चित्र निकलना—उस चित्र की याद आते ही इन्दुमती ने आँखें बन्द कर लीं—अन्तर्जगत में—अपने हृदय के अन्तस्तल में आँखें बन्द कर उसको देखने और मन ही मन कुछ कहने लगी। इसके बाद ही उसे याद आई कर्णसिंह की वह प्रतिहिंसा, विष से लटकती हुई विकट आँखें और घृण्य मुखभङ्गी। इन्दुमती कहने लगी—हाय दुराचारी, तूने उस चित्र के टुकड़े नहीं किए, बल्कि मेरे हृदय को ही चकनाचूर कर डाला।

सोचती-सोचती इन्दुमती रो पड़ी। आँखें लाल हो उठीं। हिचकियाँ बँध गईं। आँखों से मोती की भाँति आँसुओं की बूँदें लुढ़क-लुढ़क कर कपोल पर आने और नीचे गिरने लगीं। परन्तु इस समय उसे कोई समझाने वाला—आश्वासन की दो प्रेम-भरी बातें कहने वाला न

था। वह बिलख-बिलख कर स्वयं ही अपने आँचल से अपनी आँखें पोंछती और व्याकुल दृष्टि से इधर-उधर देखने लगती थी। पर वहाँ कौन था, जो उसकी इस विकलता को देखता, उसके इन आँसुओं पर तर्स खाता और उसकी इस हृदय-वेदना का कारण पूछता।

इसी दशा में धीरे-धीरे दिन ढलने लगा। अब तक इन्दुमती उसी तरह बैठी हुई थी। अब तक उसके मुँह में पानी की एक बूँद अथवा अन्न का एक दाना नहीं गया था। पर कौन उसकी सुधि लेता? रोते-रोते उसका मुख-पद्म मुरझा गया। आम की फाँकों जैसी बड़ी-बड़ी अनियारी आँखें सूज उठीं। आँसू पोंछते-पोंछते गुलाबी गालों ने एकदम लाली धारण कर ली। पर कौन उसे समझावे। करुणा उत्पन्न हो गई दिनकर में—उसकी यह विकल दशा देख, उन्होंने अपनी तपन देने वाली किरणें समेट लीं—अपने प्रतिद्वन्दी के लिए उन्होंने आकाश-राज्य का सिंहासन छोड़ दिया। परन्तु क्या विपत्ति में भी कोई किसी का साथी होता है? आज अमावस्या थी।

एकाएक इन्दुमती के उस कमरे का दरवाज़ा खुल गया। इन्दु ने जल-भरी आँखों से देखा, सामने वही कठोर हृदयी कर्णसिंह खड़े-खड़े तिरछी दृष्टि से उसकी ओर देखते और गर्व से इस तरह एक हाथ से अपनी मूँछें मरोड़ते जाते हैं, मानो उसकी यह दुखभरी दयनीय

दशा देख-देख कर उनके मन में आनन्द की लहरें उठ रही हैं।

इन्दुमती ने खीझ कर कर्णसिंह की ओर से अपना मुँह फेर लिया। कर्णसिंह क्रोध में और भी भर उठे। इसके बाद उन्होंने गरज कर कहा—इन्दुमती! तेरी इतनी स्पर्धा! क्या तू मेरी बात मानने के लिए किसी तरह तैयार नहीं है?

एकाएक इन्दुमती भी क्रोध में भर गई। गरज कर बोली—तुम जैसे अत्याचारी और कठोर हृदयी की बात मानने की अपेक्षा इस जीवन को जलाञ्जलि दे देना करोड़ गुना श्रेयस्कर है।

इन्दुमती इतना कह कर चुप हो गई और मुँह फेर कर उस वाटिका में हिलते हुए वृक्षों की ओर देखने लगी।

इन्दुमती का उत्तर सुन और भावभङ्गी देख कर कर्ण-सिंह क्रोध से विक्षिप्त हो उठे। तड़प कर बोले—अच्छा तो अब जीवन ही विसर्जन करो।

इतना कह कर उन्होंने ज़ोर से ताली बजाई। इन्दुमती भी सावधान होकर खड़ी हो गई। इसी समय दो हब्शी उस कमरे में घुस आए। उनकी विकराल सूरत देखते ही इन्दुमती एक बार काँप उठी। पर उसने तुरन्त ही अपने को सम्हाल कर कहा—ख़बरदार! कोई मेरे पास न आना। (हाथ से हीरे की अँगूठी उतार कर) यदि तुममें से
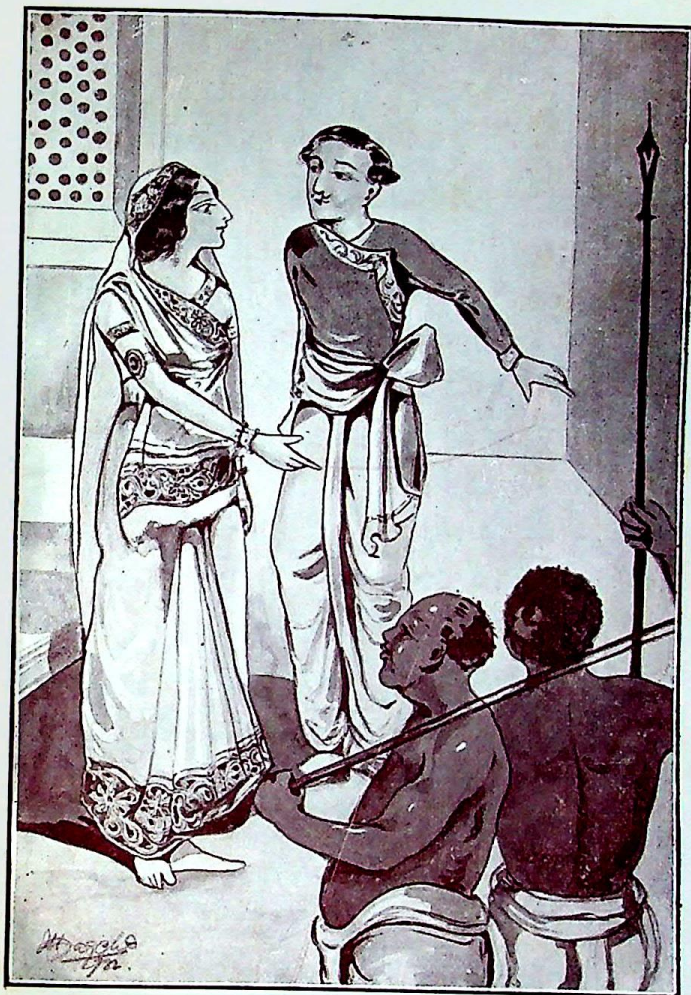
"× × × इन्दुमती भी सावधान होकर खड़ी हो गई। इसी समय दो हब्शी उस कमरे में घुस आए।"—[पृष्ठ २३२]

किसी ने भी मेरा अङ्ग स्पर्श करने की चेष्टा की, तो मैं अभी-अभी यह हीरे की कनी खाकर अपना जीवन विसर्जन कर दूँगी।

इन्दुमती यह बातें इतने दर्प और तेज़ी से कह गई कि उसका आत्मबल देख कर एक बार नृशंस कर्णसिंह का भी कठोर हृदय थर्रा उठा। परन्तु तुरन्त ही उसने अपने हृदय में साहस भर उन हबशियों की ओर देख कर कहा—तुम लोग सावधानी से इसे ले जाकर कर्मा-दुर्ग में क़ैद कर दो। वहाँ पड़ी-पड़ी यह आप ही भूखी-प्यासी मर जायगी।

दोनों हबशी आगे बढ़े। इन्दु पीछे हटने लगी। इसी समय उन हबशियों में से एक ने एक पिचकारी निकाल कर तेज़ी से उसी ओर छोड़ दी, जिधर इन्दुमती खड़ी थी। उस पिचकारी में एक बहुत ही तेज़ बेहोशी भरी हुई थी। उसने इन्दुमती पर अपना प्रभाव जमाना शुरू कर दिया। इन्दुमती बेहोश होकर उसी जगह गिर जाना चाहती थी कि उनमें से एक हबशी ने लपक कर उसे पकड़ लिया।

कर्णसिंह खड़े-खड़े अपने सामने ही यह काण्ड देख रहे थे। उन्होंने कहा—मैंने समझा था कि तुम दोनों की विकराल सूरत देख कर यह डर जायगी और आत्म-समर्पण करेगी, परन्तु यह कुछ दूसरे ही धातु की बनी हुई है। अस्तु, कर्मा-दुर्ग में जहाँ इसने घोर कष्ट उठाए, तहाँ आप ही सीधी हो जायगी। अब इस वेष की कोई

आवश्यकता नहीं है। तुम लोग जिस वेष में चाहो, इसे आज रात्रि के समय कर्मा-दुर्ग में पहुँचा दो। ध्यान रहे कि इस स्थान का पता शत्रुओं को लग गया है, कल कोई एक पत्र भी इसके पास पहुँच गया था और बाग़ के सिपाही भी बेहोश किए गए थे। अतएव बहुत ही गुप्त रीति से यह कार्य होना चाहिए, किसी को भी कानोंकान ख़बर न हो कि इस समय इन्दुमती कहाँ है।

इतना कह, एक लम्बी साँस ले, कर्णसिंह उस कमरे के बाहर निकल आए और बेचारी इन्दुमती बेहोशी की गोद में उसी स्थान पर पड़ी रही।

ठीक जिस समय आधी रात बीतना ही चाहती थी, उसी समय पीठ पर एक बड़ी सी गठरी बाँधे दो मनुष्य कर्मागढ़ के राजभवन के पीछे वाले चोर-दरवाज़े से बाहर निकल पड़े और सीधे क़दम बढ़ाते हुए नदी पार कर उस ओर चल पड़े, जिधर कर्मा-दुर्ग था। यह दुर्ग घोर जङ्गल में पहाड़ी के ऊपर इस ठाट से बनाया गया था कि अनजान मनुष्य उस दुर्ग में प्रवेश ही नहीं कर सकता था। इस समय उस दुर्ग का विशेष भाग ख़ाली ही पड़ा रहता था और दो-चार पहरेदारों के सिवाय वहाँ और कभी कोई न जाता था।

कर्मागढ़ राजभवन से यह दुर्ग कई मील की दूरी पर था और पथ भी इतना निर्जन था कि शायद ही किसी

मनुष्य का कभी उस ओर आवागमन हो। एक तो अमावस्या की अन्धकारमयी रजनी, दूसरे यह निर्जन पथ—किसी प्रकार का भय था ही नहीं, अतएव राजमहल से निकलने वाले दोनों ही मनुष्य बड़ी बेफ़िक्री से बातें करते अग्रसर होते चले जाते थे।

उनमें से एक बोला—क्यों हरीसिंह! ऐसी कुसुम सी कलियों पर अत्याचार करते भी हमारे महाराज को दया नहीं आती?

हरीसिंह ने कहा—इच्छा तो नहीं होती कि ऐसी कुसुम-कलियों पर हाथ डाला जाए; पर क्या करूँ, महाराज की आज्ञा तो माननी ही पड़ेगी। उनका नमक खा रहा हूँ। पर श्रीनाथ, इस विषय में फिर कभी किसी के सामने मुँह से कुछ न निकाल बैठना। मैंने बहुत सिफ़ारिश कर तुम्हें यह पद दिलवाया है। ऐसी घटनाएँ देखते-देखते तो हम लोगों का हृदय पक्का हो गया है। और अपने महाराज की तो बात ही न पूछो। न जाने कितनी अधखिली कलियों और विकच कुसुमों की गन्ध लेकर इन्होंने उन्हें इस तरह त्याग दिया है कि वे दीन-दुनिया दोनों से ही बेकार हो गई हैं। सच पूछो तो मैं वास्तव में राजकुमारी इन्दुमती की तारीफ़ करता हूँ। इसे कहते हैं—क्षात्र-कन्या। हमारे महाराज की सारी चालाकियाँ, समस्त प्रलोभन और भय-प्रदर्शन आदि यावत् उपायों को इसने आत्मबल से उसी

तरह नष्ट कर दिया, जिस तरह भीषण वज्र गगनचुम्बी पर्वत-शिखरों को क्षण भर में चूर्ण-विचूर्ण कर देता है।

श्रीनाथ ने कुछ उत्सुकता से कहा—पर क्या कर्मा-दुर्ग में यह सचमुच ही भूखी-प्यासी रख कर मार डाली जायगी ?

हरीसिंह ने कहा—नहीं, यह तो धमकाने की बातें थीं। वहाँ एक दासी पहिले से ही भेज दी गई है, जो राजकुमारी को आराम से रक्खेगी और अवसर देख कर अपने महाराज की बात मानने के लिए भी उससे अनुरोध करती रहेगी।

श्रीनाथ ने कहा—यह तो सुन्दर प्रबन्ध है।

इस समय दोनों ही कर्मागढ़ से बहुत दूर आगे बढ़ गए थे। गठरी श्रीनाथ की पीठ पर लदी हुई थी। हरीसिंह निश्चिन्ती से बातें करता चला जाता था। एकाएक जङ्गल में ज़ोर से सीटी बज उठी। उस सीटी की आवाज़ दूर-दूर तक जङ्गल में गूँज उठी। इसी समय एक दूसरी घटना और भी घटी। सीटी की आवाज़ कान में पड़ते ही श्रीनाथ ने ज्योंही उस ओर दृष्टि डाली जिधर से सीटी की आवाज़ आई थी, त्योंही उसके पैर में एक बार ज़ोर की ठोकर लगी। वह गिरना ही चाहता था कि हरीसिंह ने उसे सम्हाल लिया।

फिर दोनों आगे बढ़े। श्रीनाथ ने हरीसिंह से कहा—

ठोकर लगने से गठरी कुछ ढीली हो गई है। अतएव सहारा देकर इसे उतार दीजिए, मैं कस कर बाँध दूँ। तब पता लगाऊँ कि यह सीटी देने वाला कौन है।

हरीसिंह ने वैसा ही किया। अभी हरीसिंह गठरी बाँधने में श्रीनाथ को सहारा देने के लिए उसके पास आया ही था कि इसी समय बलिष्ठ श्रीनाथ झपट कर हरीसिंह को गिरा उसकी छाती पर चढ़ बैठा। इसके बाद श्रीनाथ ने ज़बरदस्ती उसकी नाक में बेहोशी की दवा सुँघा कर ज़ोर से सीटी बजाई। सीटी की आवाज़ सुनते ही एक मनुष्य पेड़ों की आड़ से निकल आया। उसने इन्दुमती की गठरी उठा ली। श्रीनाथ ने हरीसिंह की गठरी बाँध ली और दोनों ही तेज़ी से एक ओर को रवाना हो गए।